सत्साहित्य प्रकाशन ब्यूरो का छठवां पुष्प

परमार्थवचनिका प्रवचन

आध्यात्मिक कविवर पण्डित श्री बनारसीदासजी द्वारा रचित परमार्थवचनिका पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

सम्पादक :

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

एवं

राकेश जैन शास्त्री

अनुवादक :

वैद्य गम्भीरचन्द जैन, अलीगंज

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रथमावृत्ति ५,०००
(दिनाक · २६ जनवरी, १६८३)

मूल्य दो रुपये

विषय-सूची

क्रमाक		पृष्ठ सख्या

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर – ३०२००१

प्रकाशकीय

जैन जगत के दैदीप्यमान नक्षत्र कविवर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा रचित **परमार्थवचनिका** पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनो का सकलन प्रकाशित करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

जैन साहित्य-गगन लगभग दो हजार वर्षों से अनेक दिगम्बर सन्तो एव ज्ञानी गृहस्थ-विद्वानो द्वारा आलोकित होता रहा है, जिनमें कविवर पण्डित बनारसीदासजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रस्तुत कृति कवि की गम्भीर एव प्रौढ गद्य रचना है, जिसमें आगम और अध्यात्मपद्धति से जीवद्रव्य की अवस्थाओ का विस्तृत वर्णन है। संसारी जीव की विभिन्न अवस्थाओ के परिप्रेक्ष्य मे जीव के परमार्थस्वरूप का एवं स्वसत्तावलम्बनशीली ज्ञान का वर्णन इस कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

आत्मानुभवी सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी, इस युग मे आचार्य कुन्दकुन्द आदि दिगम्बर सन्तों एवं आत्मज्ञानी विद्वानो द्वारा लिपिबद्ध जिनवाणी के सरलतम व्याख्याकार हो गए है। उनके अन्तर्मुखी पुरुषार्थप्रेरक प्रवचनो के माध्यम से लाखो जीव, वस्तु का परमार्थस्वरूप जानकर परमार्थ मोक्षमार्ग प्रगट करने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक जिनागम का मर्म समझाकर, उन्होने बाह्य क्रिया-काण्ड को ही परमार्थ-मोक्षमार्ग माननेवाले मूढ जगत को झकझोर कर परमार्थतत्त्व को समझने का दुर्लभ अवसर प्रदान करके, हम सब पर अनन्त उपकार किया है। उनके सातिशय प्रभावना-योग से सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप जनसाधारण मे परमार्थ तत्त्व का स्वरूप समझने की क्षमता एवं तद्रूप परिणमन की प्रेरणा प्रस्फुटित हुई है।

परमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन गुजराती भाषा मे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ द्वारा प्रकाशित 'अध्यात्म सदेश' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हुए है, जिनका हिन्दी अनुवाद, हिन्दी आत्मधर्म के अगस्त, १९८१ अक से दिसम्बर, १९८२ अक तक मे प्रकाशित

हुआ है। किस्तो मे प्रकाशित प्रवचनो के पुस्तकाकार – सकलन से पाठको को प्रस्तुत कृति के आद्योपान्त एव तलस्पर्शी अध्ययन का लाभ मिल सकेगा – इस भावना से प्रेरित होकर इसका पुस्तकाकार प्रकाशन किया जा रहा है। इसमे मूलग्रन्थ का अश ब्लैक टाइप मे है।

इन प्रवचनो का हिन्दी अनुवाद अलीगज निवासी वैद्य गम्भीरचन्दजी ने नि स्वार्थ भाव से किया है। समय-समय पर अन्य ग्रन्थों का अनुवाद भी आपने किया है। जिनागम के प्रखर अभ्यासी वैद्यजी हिन्दी आत्मधर्म मे प्रकाशन हेतु नियमसार एव योगसार के प्रवचन तथा ज्ञान-गोष्ठी का हिन्दी अनुवाद करके नियमितरूप से भेजते रहते हैं।

लोकप्रिय प्रवचनकार एव सशक्त लेखनी के धनी डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल एव उदीयमान युवा विद्वान पण्डित राकेश जैन शास्त्री ने इन प्रवचनो का सम्पादन आत्मधर्म मे प्रकाशित होने के समय ही कर दिया है।

जिनागम के शुद्ध मुद्रण कार्य हेतु कटिबद्ध श्रीमान् सोहनलालजी एव श्रीमान् राजमलजी जयपुर प्रिन्टर्स वालो ने प्रस्तुत कृति के शुद्ध एव आकर्षक मुद्रण द्वारा अपने प्रकाशनो की शृ खला मे एक कडी और जोड दी है।

एतदर्थ हम अनुवादक, सम्पादक, मुद्रक तथा अन्य सभी सहयोगियो का हार्दिक आभार मानते है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के माध्यम से युवा वर्ग मे जिनागम के अध्ययन की रुचि एव आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न करने हेतु अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन एक प्रयत्नशील सस्था है। विद्वद्वर्ग के मार्गदर्शन एव समाज के सहयोग से यह सस्था अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील है। इसके उद्देश्य एव गतिविधियो का विवरण कवर पृष्ठ के अन्त मे दिया गया है।

सभी पाठक प्रस्तुत कृति के अध्ययन द्वारा परमार्थतत्त्व की अनुभूति हेतु प्रयत्नशील हो – यही मगल कामना है।

– मन्त्री, सत्साहित्य प्रकाशन ब्यूरो,
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर

पण्डित बनारसीदासजी | संक्षिप्त परिचय

अध्यात्म और काव्य – दोनो क्षेत्रों मे सर्वोच्च प्रतिष्ठा-प्राप्त महाकवि पण्डित बनारसीदासजी सत्रहवी शताब्दी के रससिद्ध कवि और आत्मानुभवी विद्वान् थे। आपका जन्म श्रीमाल वश मे लाला खरगसेन के यहाँ वि० सं० १६४३ मे माघ सुदी, एकादशी, रविवार को जौनपुर मे हुआ था। उससमय इनका नाम विक्रमजीत रखा गया था। बालक विक्रमजीत जब छह-सात माह के थे, तब उनके पिता सकुटुम्ब बनारस की यात्रा को गए। वहाँ के पुजारी ने स्वप्न की बात कहकर बालक का नाम बनारसीदास रखने को कहा और तब से विक्रमजीत बनारसीदास कहलाने लगे।

आपने अपने जीवन मे जितने उतार-चढाव देखे, उतने शायद ही किसी महापुरुष के जीवन मे आये हो। पुण्य और पाप का ऐसा सहज सयोग अन्यत्र विरल है। जहाँ एक ओर उनके पास चाट खाने के लिये भी पैसे नही रहे, वही दूसरी ओर वे कई बार लखपति भी बने। उनका व्यक्तित्व जहाँ एक ओर शृंगार मे सराबोर एवं आशिखी मे रस-मग्न दिखाई देता है, वही दूसरी ओर पावन अध्यात्म-गगा मे स्नान करता दृष्टिगत होता है। जहाँ एक ओर वे रूढियों में जकडे एवं मत्र-तंत्र के घटाटोप मे आकण्ठ डूबे दीखते है, तो दूसरी ओर उन्ही का जोरदार खण्डन करते दिखाई देते है।

उन्होने आठ वर्ष की उम्र में पढना प्रारम्भ किया और नौ वर्ष की उम्र मे सगाई तथा ग्यारह वर्ष की उम्र में शादी हो गयी। पुण्य-पाप के विचित्र सयोग ने कवि को यहाँ भी नही छोड़ा। जिस दिन वे शादी करके लौटे, उसी दिन उनकी बहिन का जन्म तथा नानी का मरण एक साथ हुआ।

उन्होने तीन शादियाँ की तथा उनके सात पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं, पर एक भी सन्तान जीवित नही रही। कविवर ने स्वयं अपनी अन्तर्वेदना का वर्णन अर्द्धकथानक मे निम्न शब्दो मे किया है :—

तीनि विवाहीं भारजा, सुता दोइ सुत सात ॥६४२॥
नौ वालक हुए मुए, रहे नारि-नर दोइ।
ज्यौं तरुवर पतझार ह्वै, रहैं ठूँठ से होइ ॥६४३॥

काव्य-प्रतिभा तो आपको जन्म से ही प्राप्त थी। १४ वर्ष की उम्र में आप उच्चकोटि की कविता करने लगे थे, पर प्रारम्भिक जीवन मे शृंगारिक कविताओ मे मग्न रहे। इनकी सर्वप्रथम कृति 'नवरस' १४ वर्ष की उम्र मे तैयार हो गई थी, जिसमे अधिकाश शृंगार रस का ही वर्णन था – इस रस की यह एक उत्कृष्ट कृति थी, जिसे विवेक जागृत होने पर कवि ने गोमती नदी में वहा दिया था।

वि० स० १६८० मे ३७ वर्ष की अवस्था मे उनके धार्मिक जीवन में नई क्रान्ति हुई। उन्हे अरथमलजी ढोर का संयोग मिला और उन्होने आपको पाण्डे राजमलजी द्वारा लिखित समयसार के कलशो की वालवोधिनी टीका पढने की प्रेरणा ही नही दी, वल्कि ग्रन्थ भी सामने रख दिया। वनारसीदासजी उसको पढकर वहुत प्रभावित हुए, किन्तु उसका मर्म तो जान नही पाये और स्वच्छन्द हो गये।

कवि की यह दशा वारह वर्ष तक रही। इस वीच कवि ने वहुत-सी कवितायें लिखी, जो वनारसी-विलास मे सगृहीत है। कवि ने उनकी प्रामाणिकता के वारे मे लिखा है कि यद्यपि उससमय मेरी दशा निश्चयाभासी-स्वछन्दी-एकान्ती जैसी हो गई थी; तथापि जो कुछ उससमय लिखा गया, वह स्याद्वाद-वाणी के अनुसार ही था। आप स्वयं लिखते है –

सौलह सै बानवै लौं, कियौ नियत रसपान।
पै कवीसुरी सब भई, स्याद्वाद परवान ॥६२८॥

इसके वाद अनायास ही आगरा मे पण्डित रूपचन्दजी पाण्डे का आगमन हुआ और उनकी विद्वता से प्रभावित होकर पण्डित वनारसीदासजी अपने

सभी अध्यात्मी साथियों सहित उनका प्रवचन सुनने गये, जिसमे उन्होंने गोम्मट्टसार ग्रन्थ का वाचन करते हुए गुणस्थान अनुसार सम्यक्-आचरण का विवेचन किया। निश्चय-व्यवहार का स्वरूप भी सही-सही समझाया और कवि को उनके निमित्त से ही स्याद्‌वाद का सच्चा ज्ञान, सत्य की प्राप्ति और आत्मा का अनुभव हुआ।

इसके वाद कविराज का चित्त स्थिर और शान्त हो गया। वे जो पाना चाहते थे, उन्हे वह मिल गया था। उन्होने यह दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लिया था कि सत्य पन्थ 'निर्ग्रन्थ दिगम्बर' ही है। अध्यात्म चिंतन-मनन के साथ-साथ उन्होने साहित्य निर्माण एवं शिथिलाचार के विरूद्ध शुद्ध अध्यात्म-मार्ग का प्रचार व प्रसार भी तेजी से आरम्भ कर दिया था। उनके द्वारा रचित 'नाटक समयसार' की चर्चा घर-घर मे होने लगी थी। गली-गली मे लोग उसके छन्द गुनगुनाया करते थे।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' एक महान् क्रान्तिकारी आध्यात्मिक ग्रन्थराज है। उसके निमित्त से लाखो लोग समय-समय पर सत्य पन्थ मे लगे है। महाकवि वनारसीदास के ठीक तीन सौ वर्ष वाद एक और श्वेताम्वर साधु 'कानजी मुनि' इसके — निमित्त से दिगम्वर धर्म की ओर आकर्षित ही नही हुए, वरन् उनके माध्यम से अध्यात्म के क्षेत्र मे आज एक महान क्रान्ति उपस्थित हो गई है। इसकारण आज वे दिगम्वर समाज मे 'अध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी' के नाम से जाने-माने जाते है।

तत्समय पण्डित वनारसीदासजी का वढता प्रभाव न तो श्वेताम्वरो को ही सुहाया और न ही भट्टारकपन्थी शिथिलाचारी दिगम्वरो को। अतः दोनो ओर से वनारसीदासजी द्वारा सचालित आध्यात्मिक क्रान्ति का विरोध हुआ।

श्वेताम्वराचार्य महामहोपाध्याय मेघविजय ने तो उनके विरोध मे 'वनारसी-मत खण्डन (युक्ति प्रबोध)' नामक ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका सहित लिखा। पर ज्यो-ज्यो, विरोध ने तेजी पकड़ी, त्यो-त्यो यह आध्यात्मिक-पन्थ, जिसे वाद में तेरापन्थ भी कहा गया, फलता-फूलता गया और आगे चलकर उस युग के महान् विद्वान् पण्डित टोडरमलजी का सहारा पाकर देशव्यापी हो गया।

कविवर वनारसीदासजी की उपलब्ध पद्य रचनाये चार है। वनारसी-विलास, नाकमाला, अर्द्धकथानक और नाटक समयसार। इसके अतिरिक्त उनकी परमार्थवचनिका और उपादान निमित्त की चिट्ठी नामक दो अत्यन्त गम्भीर एव मार्मिक गद्य रचनाये भी उपलब्ध है, जो छोटी होने के कारण स्वतन्त्ररूप से मुद्रित न होकर मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के साथ ही मुद्रित की गई है।

वे अपने युग के महान् क्रान्तिकारी विचारक थे, मात्र भावुक कवि नही। रससिद्ध कवि होने के कारण उनका हृदय कम भावुक नही है, पर भावुकता मे विचारपक्ष कमजोर नही पडने पाया है।

जैन अध्यात्म के क्षेत्र मे तो पण्डित वनारसीदासजी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ही, हिन्दी साहित्य के इतिहास मे भी उनका योगदान सदिग्ध नही। आवश्यकता मात्र साहित्यिक उपादानो की दृष्टि से उनके साहित्य का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने की है।

कविवर का देहोत्सर्ग काल तो अविदित ही है, किन्तु तत्सम्वन्ध मे एक किवदन्ति प्रसिद्ध है कि अन्तकाल मे उनका कण्ठ अवरुद्ध गया था, अत: वे वोल नही सकते थे, पर वे ध्यानमग्न और चिन्तनरत अवश्य थे। उससमय समीपस्थ लोगो मे इसप्रकार चर्चा होने लगी कि कवि के प्राण माया व कुटुम्वियो मे अटके हैं, उनकी आशका के निवारणार्थ उन्होने अपने जीवन का अन्तिम छन्द निम्न प्रकार से लिखा :–

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना,
प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनन्त सु सोहना।
जा परजै को अन्त, सत्यकरि मानना,
चले वनारसीदास, फेर नहिं आवना ॥

इसीप्रकार हम भी अपने जीवन मे ज्ञान और वैराग्य की ज्योति जलाकर अपने जीवन-पथ को आलोकित करें – यही भावना है।

संसारावस्थित जीव की अवस्था

एक जीवद्रव्य, उसके अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें, एक-एक गुण के असंख्यात प्रदेश, एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणाएँ, एक-एक कर्मवर्गणा में अनन्त-अनन्त पुद्गलपरमाणु, एक-एक पुद्गलपरमाणु अनन्त गुण व अनन्त पर्यायसहित विराजमान।

यह एक संसारावस्थित जीवपिण्ड की अवस्था। इसीप्रकार अनन्त जीवद्रव्य सपिण्डरूप जानना। एक जीवद्रव्य अनन्त-अनन्त पुद्गलद्रव्य से संयोगित (संयुक्त) मानना।

यह जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव के शासन की बात है। जगत मे स्वतन्त्ररूप से अनन्त जीव, जीव की अपेक्षा अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य, एक-एक जीव मे और एक-एक पुद्गलपरमाणु में अपने-अपने अनन्त गुण और उनका परिणमन – यह सब भगवान सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त अन्य कोई जानने में समर्थ नही; अतः सर्वज्ञदेव के जैनशासन के अलावा कही भी ऐसी वात नहीं हो सकती। अधिकाश जीव तो जीव की स्वतन्त्र सत्ता को ही स्वीकार नही करते; वे तो ऐसा मानते है कि किसी ईश्वर ने इस जीव को वनाया है अथवा सब मिलकर अद्वैत है, परन्तु उन्होने एक-एक जीव की पूर्ण सत्ता को स्वीकार नही किया और स्व व जगत के अन्य जीवों की सत्ता को पराधीन और अपूर्ण माना।

भाई! जो जीव आत्मा का पूर्ण अस्तित्व ही न माने, वह उसकी पूर्णदशा को कैसे साध सकेगा; अतः सर्वप्रथम भगवान सर्वज्ञदेव के

कथनानुसार जगत मे सर्व अनन्त जीवों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारना चाहिए तथा उन्हे अनन्त गुणो से परिपूर्ण मानना चाहिये। इसमे भी जिसकी भूल हो उसकी आत्मा में परमार्थ के सच्चे विचार का उदय ही नही हो सकता; इसलिए प्रथम मे प्रथम इस बात की उद्घोषणा की है।

जगत मे अनन्त जीव भिन्न-भिन्न है। एक-एक जीवद्रव्य मे अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक-एक की मिलाकर प्रतिसमय अनन्त पर्याये है अर्थात् अनन्त गुणो की प्रतिसमय एक-एक पर्याय उत्पन्न होती है, इसलिए एकसमय मे सब मिलाकर अनन्त पर्याये है। एक-एक गुण के असंख्य प्रदेश है, जितने जीवद्रव्य के प्रदेश है, उतने ही प्रत्येक गुण के प्रदेश हैं – इसप्रकार यहाँ जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय बताए गये।

संसारी जीव के एक-एक प्रदेश पर अनन्त कर्मवर्गणाएँ है, जिनमे अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु है और वे भी अनन्त गुण-पर्यायो सहित विराजमान है – ऐसी प्रत्येक ससारी जीव की स्थिति है।

इस लोक मे सिद्ध जीवो की सख्या अनन्त है और सिद्ध जीवों से अनन्तगुने संसारी जीव है। भाई! आलू इत्यादि कन्दमूल के छोटे से छोटे टुकडे मे भी असख्यात औदारिक शरीर और एक-एक शरीर मे सिद्धो से अनन्तगुने निगोदिया जीव है। यद्यपि निगोद से लेकर चौदहवे गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक ससारी जीव का अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्यों के साथ सयोग है, तथापि प्रत्येक जीवद्रव्य व पुद्गलपरमाणु पृथक्-पृथक् परिणमन कर रहे है। एक द्रव्य भी अन्य किसी द्रव्य से मिलकर एकमेक नही हुआ है।

भाई! ये अनन्त जीवराशि, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु और उनके अनन्त गुण-पर्यायो को एक साथ देखने-जानने की सामर्थ्य सर्वज्ञस्वभावी अपनी आत्मा मे है; अतः अपनी आत्मा पर लक्ष्य देना

चाहिए। अहो ! ऐसी वस्तुस्वरूप की बात जैनशासन के अतिरिक्त अन्य कहाँ है ? अर्थात् है ही नहीं।

अब जीव और पुद्गल की भिन्न-भिन्न परिणति का विचार करते है :—

उसका विवरण — अन्य-अन्यरूप जीवद्रव्य की परिणति, अन्य-अन्यरूप पुद्गलद्रव्य की परिणति।

उसका विवरण — एक जीवद्रव्य जिसप्रकार अवस्था सहित नाना आकाररूप परिणमित होता है, वह अन्य जीव से नहीं मिलता; उसका और प्रकार है। इसीप्रकार अनंतानंतस्वरूप जीवद्रव्य अनंतानंतस्वरूप अवस्था सहित वर्त्त रहे हैं। किसी जीवद्रव्य के परिणाम किसी अन्य जीवद्रव्य से नहीं मिलते। इसीप्रकार एक पुद्गलपरमाणु एकसमय में जिसप्रकार की अवस्था धारण करता है, वह अवस्था अन्य पुद्गलपरमाणुद्रव्य से नहीं मिलती; इसलिए पुद्गलद्रव्य की अन्य-अन्यता जानना।

मुक्तावस्था में तो जीव और पुद्गल की परिणति भिन्न है ही, परन्तु ससारावस्था में जीव और पुद्गल का संयोग होने पर भी दोनों की परिणति भिन्न ही है; कोई एक दूसरे की परिणति में हस्तक्षेप नहीं करता।

संसारावस्था में किन्हीं भी दो जीवों की परिणति सर्वप्रकार से नही मिलती, कुछ न कुछ भिन्नता होती ही है। सिद्धदशा में तो सभी गुण सादृश्य को प्राप्त होते है, किन्तु संसारदशा तो उदयभाव है, वहाँ जिसप्रकार एक जीव अनेक गुणों की अनेक पर्यायरूप परिणमन करता है, उसीप्रकार अन्य जीव सर्वथा परिणमन नहीं करता अर्थात् दो संसारी जीवों की परिणति कभी सर्वथा समान नहीं होती। यद्यपि केवलज्ञानादि में तो किसी अपेक्षा से सादृश्य होता भी है, परन्तु औदयिकभावों में कभी भी सादृश्य नहीं होता, किसी न किसी प्रकार की विशेषता या भिन्नता अवश्य होती है।

जिसप्रकार जीवों की अवस्था भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, उसीप्रकार उनके निमित्तरूप पुद्गलकर्म की अवस्था में भी विभिन्नता होती है, किन्ही दो परमाणुओ की अवस्था भी सर्वप्रकार से एक दूसरे से मिलती नही है।

देखो तो सही ! कैसा वस्तु का स्वभाव है ? एक ही शरीर मे अनन्त निगोदिया जीव रहते है, यद्यपि उन सबका शरीर एक ही है, तथापि परिणति सबकी भिन्न-भिन्न है, प्रत्येक की परिणति मे कुछ न कुछ विविधता है। एक ही शरीर में रहनेवाले अनन्त निगोदिया जीवों में भी कोई भव्य है, तो कोई अभव्य। अनन्त भव्य जीवों में भी कोई अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाले है, कोई बहुत काल बाद मोक्ष जानेवाले हैं और कोई ऐसे भी होते है कि अनन्तकाल वाद भी मोक्ष प्राप्त न करें।

ससारी जीवों की ऐसी परिणति का ज्ञान वीतरागता उत्पन्न होने मे कारण है, क्योंकि जगत के जीव और पुद्गल अपने-अपने स्वभाव से ही विविध परिणतिवाले हैं, इसमें दूसरे का क्या हस्तक्षेप है ?

यहाँ प्रश्न है कि द्रव्यस्वभाव से सभी जीव सदृश होने पर भी उनकी परिणति में विशेप अन्तर क्यों है ? उसका उत्तर इसप्रकार है कि द्रव्य ही इस भाँति परिणमित हुआ है, इसमें अन्य द्रव्य का कर्त्तृत्व रंचमात्र भी नही है। जो ज्ञाता होता है, वही इसप्रकार वस्तु के स्वभाव को जानता है; अज्ञानी जीव तो कर्त्ताबुद्धि का मोह करता है। जीव चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, उसकी कर्त्तृत्वसीमा तो यही है कि वह चाहे तो ज्ञानपरिणति को करे अथवा मोहपरिणति को करे, परन्तु कोई भी पर मे तो रंचमात्र भी परिणमन नही कर सकता।

जीव और पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन है और यही जगत की वस्तुस्थिति है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' – यह जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ अपने से ही है, दूसरा उसका कारण नहीं

है। परमाणु भी अपने स्वभाव सामर्थ्य से भरपूर जड़ेश्वर हैं, दो परमाणुओं की अवस्था सर्वथा एकरूप नहीं हो सकती। दो परमाणुओं का आकार भले ही समान हो, परन्तु स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि अनन्त गुणों की परिणति में कुछ न कुछ असमानता अवश्य होगी ही – इसप्रकार ससार में प्रत्येक जीव या पुद्गल की अवस्था में कुछ न कुछ असमानता अवश्य होगी। इस समस्त व्याख्या से यह बात सूचित होती है कि प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की अत्यन्त स्वतन्त्रता है।

यहाँ परमार्थवचनिका में संसारावस्था में स्थित जीवों के परिणमन की विचित्रता की व्याख्या चल रही है। भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा जाना हुआ यह अलौकिक विज्ञान है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की सामर्थ्य सभी जीवों की समान है, परन्तु औदयिकभावों में भिन्नता है। किन्हीं भी संसारी जीवों के परिणाम सर्वप्रकार से सदृशता को धारण नही करते – ऐसा ही वस्तु का अहेतुक स्वभाव है। यद्यपि द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा शुद्धनय से सभी जीव समान है, सभी जीव अनादिकाल से वर्त्तमान तक परिणमन करते आये हैं; तथापि कोई सिद्ध – कोई संसारी, कोई सर्वज्ञ – कोई अल्पज्ञ, कोई वीतरागी – कोई रागी, कोई ज्ञानी – कोई अज्ञानी; अरे! छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के परिणामों में भी विचित्रता है; छठवें गुणस्थान में ही किसी को चार, किसी को तीन और किसी को दो ही ज्ञान होते हैं; विचित्रता तो यहाँ तक है कि दो ज्ञानवाला भी कदाचित् चार ज्ञानवाले से पहले ही केवलज्ञान प्राप्त कर ले। कोई जीव केवलज्ञान होने के बाद किंचित् न्यून कोटिपूर्व तक अर्हन्तपद में ही विचरण करे एवं कोई जीव बहुत समय बाद अर्हन्तपद प्राप्त करे और अन्तर्मुहूर्त्त में ही सिद्धदशा प्राप्त कर लेवे। संसारी जीवों के परिणामों में इसीप्रकार अनेकानेक विचित्रतायें है।

विभावरूप परिणमन की योग्यता भी प्रत्येक द्रव्य की भिन्न-भिन्न होती है। यह बात जीव तथा पुद्गल – दोनों में लागू पड़ती है।

देखो ! स्वभाव की अपेक्षा तो अनन्तजीव समान हैं, किन्तु विभाव की अपेक्षा नही; इसीप्रकार परमाणु भी जब विभावरूप अर्थात् स्कंधरूप परिणमित होता है, तब भी प्रत्येक परमाणु की भिन्न-भिन्न योग्यता होती है।

कुछ लोग कहते है कि जगत मे अनन्त जीवों की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है, सव मिलकर एक ही अद्वैतब्रह्म है, किन्तु यहाँ तो सर्वज्ञ भगवान परमेश्वरदेव कहते हैं कि जगत मे अनन्त जीवों की पृथक्-पृथक् सत्ता है और प्रत्येक के परिणाम भिन्न-भिन्न, विचित्रता सहित हैं— कितना भारी अन्तर है ? जो अपना परिपूर्ण सर्वसम्पन्न स्वतन्त्र अस्तित्व न माने, वह परिपूर्णता को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? प्रत्येक जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व, परिणाम की अनन्त प्रकार की विचित्रता और उस विचित्रता मे निमित्तरूप कर्मों की भी अनन्त विचित्रता— यह सव भगवान सर्वज्ञदेव के शासन के अलावा अन्यत्र कही भी नही है।

परिणामों की विचित्रता के इस प्रसङ्ग मे प्रश्न है कि जव प्रत्येक ससारी जीव के परिणामों मे विचित्रता है तथा संसार मे किन्हीं दो जीवों के परिणाम सर्वप्रकार से समान नही होते है तो अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रसङ्ग में यह क्यों कहा जाता है कि इस गुणस्थान मे सभी जीवो के परिणाम समान ही होते है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चारित्र सम्वन्धी परिणामों की शुद्धता की अपेक्षा ही वहाँ समानता कही है, तथा वहाँ भी अन्य सभी परिणामो की अपेक्षा समानता नहीं जाननी चाहिए। ज्ञानादि अन्य परिणामों तथा अघातिकर्मों सम्वन्धी दूसरे अनेक भावों में वहाँ भी विचित्रता है, भिन्नता है। इसी गुणस्थान में किसी जीव को चार, किसी को तीन और किसी को दो ही ज्ञान होते हैं। किसी जीव की अल्पायु, किसी की दीर्घायु; किसी जीव की एक धनुप की और किसी

की पाँच सौ धनुष की अवगाहना होती है; तथा कोई एकावतारी, कोई तद्भव मोक्षगामी और कोई अर्धपुद्गल परावर्तन तक भ्रमण करनेवाला भी हो सकता है – इसप्रकार अनेक प्रकार की विचित्रता होती है। संसार में किन्ही दो जीवों के परिणामों में कदाचित् किसी विशिष्ट प्रकार की अपेक्षा तो समानता हो सकती है, परन्तु सर्वप्रकार से समानता कभी नहीं होती।

सर्वज्ञकथित जिनमार्ग में जिसे आस्था हो, उसी के हृदय में यह बात जम सकती है। इस वचनिका के अन्त में पं० बनारसीदासजी स्वयं कहते है कि यह वचनिका यथायोग्य सुमति-प्रमाण केवली-वचनानुसार है। जो जीव इसे सुनेगा, समझेगा तथा श्रद्धान करेगा, उसका यथायोग्य भाग्यानुसार कल्याण होगा।

'केवलीवचनानुसार' कहने का तात्पर्य यह है कि इसे समझने के लिए केवली भगवान की श्रद्धा होना परम आवश्यक है। जिसको केवली भगवान सर्वज्ञदेव की श्रद्धा नहीं है, उसे यह परमार्थवचनिका भी समझ में नहीं आ सकती।

संसार में अनन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु है; सभी अपने-अपने गुण-पर्यायों सहित विराजमान है; तथा प्रत्येक के परिणाम भिन्न-भिन्न प्रकार के है। किसी के भी परिणाम अन्य के साथ समानता नही रखते – यह सिद्धान्त बतलाया।

अब उन जीव और पुद्गलों की भिन्न-भिन्न अवस्था का विशेष वर्णन करते है :–

अब, जीवद्रव्य पुदगलद्रव्य एकक्षेत्रावगाही अनादिकाल के है, उनमें विशेष इतना कि जीवद्रव्य एक, पुद्गलपरमाणुद्रव्य अनन्तानन्त, चलाचलरूप, आगमनगमनरूप, अनंताकारपरिणमनरूप, बन्ध-मुक्ति शक्तिसहित वर्तते हैं।

जगत मे जीव और पुद्‌गलकर्मवर्गणाओ का अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। अनन्तानन्त पुद्‌गलपरमाणु एक-एक जीव के साथ सम्वन्धित है। चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे भी जीव का सम्बन्ध अनन्त पुद्‌गलपरमाणुओं से है। यद्यपि वह जीव अगले समय में सिद्धत्व प्राप्त करनेवाला है तथा उसके सबसे न्यून कर्मवर्गणाये एकक्षेत्रावगाहरूप से सम्बन्धित है, तथापि कर्मवर्गणाये अनन्त ही है। ससारदशा चौदहवे गुणस्थान पर्यन्त है और जब तक ससारदशा है, तब तक अनन्त पुद्‌गलकर्मपरमाणुओं का एकक्षेत्रावगाह सम्वन्ध अवश्य होता है। यद्यपि सिद्धशिला मे भी अनन्त कर्मवर्गणाये रहती है, तथापि वे सिद्धो के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के अभाव के कारण एकक्षेत्रावगाहरूप से सम्बन्धित नही है, अतः यहाँ पर उनकी चर्चा नही है।

सिद्धजीव तो पूर्णरूप से शुद्ध हो चुके हैं, अतएव उनका परमाणुओं के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नही है, परन्तु ससारीजीव तो अशुद्धता के निमित्त से कर्मवर्गणाओ को बाँधता है तथा एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध स्थापित करता है। यहाँ परमार्थवचनिका मे उन्ही कर्मवर्गणाओ की चर्चा है, जो आत्मद्रव्य के साथ सम्वन्ध वनाये हुये है। उन कर्मवर्गणाओ की यहाँ चर्चा नही है, जो सारे लोक मे तथा सिद्धशिला मे भी भरी पड़ी है।

यद्यपि जीव और पुद्‌गल का एकक्षेत्रावगाह सम्वन्ध है, अनादि से एकक्षेत्र मे रहते आये है; तथापि दोनो के स्वप्रदेश तो भिन्न-भिन्न ही रहते है। आकाशद्रव्य की अपेक्षा जीव और पुद्‌गल का एकक्षेत्र कहा जाता है, फिर भी वास्तव मे प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वप्रदेश भिन्न ही है। प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशी है, अतः प्रत्येक जीव के असख्य स्वप्रदेश हैं, वे अरूपी है; प्रत्येक पुद्‌गलपरमाणु का अपना एकप्रदेश है, वह रूपी है। यदि एकक्षेत्र मे अनन्तजीव भी हो तो भी प्रत्येक जीव के स्वप्रदेश जुदे-जुदे ही हैं, क्योकि प्रत्येक द्रव्य

अपने स्वचतुष्टय में रहता है, सबका पृथक्-पृथक् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होता है। किसी भी एक-द्रव्य का स्वक्षेत्र कभी किसी दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता।

श्री समयसार शास्त्र की तीसरी गाथा की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि – "सर्वपदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनन्तधर्मो के चक्र को तो चुम्बन करते है, स्पर्श करते है; तथापि परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से रहने पर भी सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते तथा पररूप परिणमन न करने के कारण जिनकी अनन्त व्यक्तिता नष्ट नही होती, इसलिए वे टकोत्कीर्ण की भाँति स्थित रहते है।" – इसप्रकार अनंतपदार्थ एक ही क्षेत्र में साथ-साथ अनादिकाल से रहने पर भी प्रत्येक पदार्थ का निज-निज स्वरूप भिन्न-भिन्न ही रहता है। यद्यपि लोक असंख्यप्रदेशी है, तथापि इसमें असंख्य-असंख्यप्रदेशी अनंतजीव रहते हैं तथा एकद्रव्य के प्रदेश दूसरे द्रव्य के प्रदेश को स्पर्श भी नहीं करते।

यहाँ कोई कहे कि जब लोक के असंख्यप्रदेशो में अनन्तजीव रहते है तो अनन्तजीवों के असंख्यातवे भाग जीव एकप्रदेश में रहेगे, परन्तु इसप्रकार का त्रैराशिक माप (गणित से सबंधित) यहाँ वस्तु के स्वभाव में अनुकूल नहीं होता, क्योंकि एक जीव चाहे जितना सकुचित हो जाय तो भी वह असंख्यप्रदेश में ही रहेगा। असख्यप्रदेशो से कम प्रदेशों में वह कभी भी नही रहता। जीव के असख्यप्रदेशो का स्वरूप इसप्रकार है कि यदि उनका अत्यधिक विस्तार हो जाय तो एक जीव लोकप्रमाण हो जाय और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जीव के एक-एक प्रदेश स्थित हो जायें, परन्तु इतना विस्तार होने पर भी लोकाकाश के असंख्यप्रदेशों के समान जीव के प्रदेश भी असंख्य ही रहेंगे। और यदि जीव अत्यधिक संकुचित हो जाय तो लोकाकाश का असख्यातवाँ भाग ही रोके, परन्तु फिर भी जीव के

प्रदेश असख्यप्रदेशत्व की सीमा का उल्लंघन नही करते, क्योकि असख्यात मे असख्यात का भाग देने पर असख्यात ही-शेप रहता है। इसका कारण यह है कि असख्यात भी असख्यप्रकार का होता है।

एक-एक जीवप्रदेश पर अनन्त कर्मवर्गणाये रहती है, जीव-परिणाम के निमित्त से इनका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध हुआ है। इन कर्मवर्गणाओ में अनन्त-अनन्त पुद्गलपरमाणु रहते है। यद्यपि इसप्रकार की अवस्था अनादिकाल से ही है, तथापि अनादिकाल से वे ही कर्मवर्गणाये अथवा उन ही कर्मपरमाणुओ का समूह सम्बन्धित हो – ऐसा नही है। अनादिकाल से प्रतिसमय अनन्त पूर्ववद्धपरमाणु छूटते है और नवीन वधते है। कर्मबधन की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर-कोडाकोडी सागरोपम की है। कोई भी कर्मपरमाणु इससे अधिक पुराना नही रह सकता, वाद मे भले ही कोई रजकण मुक्त होकर पुन: जीव के साथ वधन को प्राप्त हो जाये। इसप्रकार यह एक जीवद्रव्य के साथ अनन्त कर्मरूप पुद्गलपरमाणु – **चलाचलरूप शक्तिसहित** रहते है। अहो ! इससे स्वतत्रता का सिद्धान्त ही प्रतिफलित होता है। कैसा अलौकिक भेद-विज्ञान वीतरागी सन्तो ने शास्त्रो में भर दिया है।

जीव के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कर्मपरमाणुओ मे क्षण-क्षण नवीन-आगमन तथा पूर्ववद्ध परमाणुओं का गमन होता रहता है, इसप्रकार **आगमनगमनरूप शक्तिसहित** रहते है।

जीवद्रव्य तो एक है, उसके निमित्त से कर्मो का जो आना-जाना होता है, वह तो उनकी स्वयं की **परिणमनशक्ति** से होता है। आकाशद्रव्य की अपेक्षा भले ही जीव और कर्म एकक्षेत्र में हों, परन्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा तो भिन्न-भिन्न ही है। दोनो अपनी-अपनी परिणमनशक्ति से परिणमन करते हैं।

पुद्गलकर्मवर्गणाओ मे निरतर क्षण-क्षण मे अनन्त-अनन्त परमाणुओ की घट-वढ़ होती रहती है, वह उसके ही **अनन्ताकार**

परिणमनरूप होने से होती है। वर्ण-रस-गंध-स्पर्श अथवा प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग की अपेक्षा उनका अनेकाकारपना तो है ही।

वे पुद्गलद्रव्य अनेकप्रकार से बधनेरूप और छूटनेरूप अवस्थाओं की अपेक्षा **बंध-मुक्तिशक्तिसहित** भी रहते हैं। जीव के विकार के निमित्त से जिससमय अनन्तकर्मपरमाणु बधते है; उसीसमय अनन्त-कर्मपरमाणु अपना फल देकर मुक्त हो जाते है। इसप्रकार जीवपुद्गल आदि समस्तद्रव्यों में अनन्त-अनन्त शक्तियाँ विद्यमान रहती है।

जीव व पुद्गल की शक्तियों का सरस वर्णन नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है :–

समता रमता उर्ध्वता, ज्ञायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता – यह सब जीव-विलास॥
तनता मनता वचनता, जड़ता जड़सम्मेल।
गुरुता लघुता गमनता – यह अजीव के खेल॥

आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथराज 'समयसार' की टीका आचार्य अमृतचन्द्र ने 'आत्मख्याति' नाम से की। इस टीका के बीच-बीच में संस्कृतभाषा में कलशों (छन्दों) की रचना हुई है। उन कलशों की पं० राजमलजी पाण्डे द्वारा 'बालबोधिनी टीका' लिखी गई, उसमें भी अध्यात्म के गभीरभावों का समावेश हुआ है। पण्डित बनारसीदासजी ने उसे पढ़ने के बाद, उसके आधार पर 'नाटक समयसार' की रचना की। इन्ही पं० बनारसीदासजी ने यह परमार्थ-वचनिका नाम का लघुग्रथ भी बनाया, जिसमे अध्यात्म और आगम – दोनों का सहारा लेकर बहुत गम्भीरभावो को थोड़े में व्यक्त किया है।

इसप्रकार यहाँ यह बतलाया है कि जीव और पुद्गल का स्वभाव तो त्रिकाल भिन्न है, फिर भी संसारावस्था मे जीव और पुद्गल का सम्बन्ध अनादि से है; उनमे जीवद्रव्य तो एक है; परन्तु पुद्गलद्रव्य अनन्तान्त, चलाचलरूप, आगमनगमनरूप, अनन्ताकार-परिणमनरूप, बन्ध-मुक्तिशक्तिसहित परिणमते हैं।

२

जीवद्रव्य की अनन्त अवस्थाएँ

परमार्थवचनिका मे यहाँ ससारी जीवद्रव्य की अवस्थाओ का विचार किया जा रहा है।

अब, जीवद्रव्य की अनंत अवस्थाएँ, – उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य स्थापित की। एक अशुद्ध अवस्था, एक शुद्धाशुद्धरूप मिश्र अवस्था, एक शुद्ध अवस्था – ये तीन अवस्थाएँ संसारी जीवद्रव्य की; संसारातीत सिद्ध अनवस्थितरूप कहे जाते हैं।

यहाँ मिथ्यादृष्टि से चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय तक सभी ससारी जीवो की अवस्था के मुख्यत: तीन प्रकार कहे हैं, उसमे अनन्त अवस्थाएँ समाविष्ट हो जाती है। यहाँ ससार-अवस्था से सहित ससारी जीवो की ही चर्चा है। ससारातीत सिद्धभगवन्तो को यहाँ नही लिया गया है, क्योकि वे तो ससार-अवस्था से पार हो गये है, अत: उन्हे 'अनवस्थित' कहा गया है। सिद्धभगवान को अशुद्धता तथा कर्म का संयोग नही है, अत: उन्हे उसप्रकार का व्यवहार भी नही है। इसी परमार्थवचनिका में सिद्धभगवानो को 'व्यवहारातीत' भी कहा है।

अब तीनो अवस्थाओं का विचार – एक अशुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य, एक शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य, एक मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य। अशुद्धनिश्चयद्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार, मिश्रद्रव्य को सहकारी मिश्रव्यवहार, शुद्धद्रव्य को सहकारी शुद्धव्यवहार।

यद्यपि स्वभावदृष्टि से देखने पर द्रव्य अशुद्ध नही है, तथापि अशुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को अशुद्धपर्याय के साथ अभेद मानकर अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य कहा है और उसके साथ होनेवाली अशुद्धपरिणति को (भेददृष्टि से) अशुद्धव्यवहार कहा है। इसप्रकार **अशुद्धनिश्चयद्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार** का स्पष्टीकरण हुआ।

इसीप्रकार साधकपर्यायरूप से परिणमित आत्मा को साधक-दशा के साथ अभेद करके मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य कहा है तथा उसकी साधक-बाधकपर्याय को (भेददृष्टि से) मिश्रव्यवहार कहा है। इस प्रकार **मिश्रनिश्चयद्रव्य को सहकारी मिश्रव्यवहार** का खुलासा हुआ।

इसीप्रकार शुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को शुद्धपर्याय से अभेद करके शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य कहा है और उसकी शुद्धपर्याय को (भेददृष्टि से) शुद्धव्यवहार कहा है। इसप्रकार **शुद्धनिश्चयद्रव्य को सहकारी शुद्धव्यवहार** का वर्णन हुआ।

यद्यपि संसार अवस्था में अशुद्धता व शुद्धता – दोनों के अनन्त-अनन्त प्रकार है, किन्तु अधिक भेद न करके प्रयोजनमात्र अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध – ऐसे तीन ही भेद किए गये है। इनमें ही अनन्त भेदों का समावेश हो गया है।

अब निश्चय-व्यवहार का विवरण लिखते हैं :–

निश्चय तो अभेदरूपद्रव्य, व्यवहार द्रव्य के यथास्थितभाव; परन्तु विशेष इतना कि जितने काल संसारावस्था उतने काल व्यवहार कहा जाता है, सिद्ध व्यवहारातीत कहे जाते हैं, क्योंकि संसार और व्यवहार एकरूप बतलाया है। संसारी सो व्यवहारी, व्यवहारी सो संसारी।

द्रव्य-पर्याय को अभेद मानकर निश्चय कहा है और पर्याय को यथावस्थितभाव कहकर भेद करके व्यवहार कहा है। यह **निश्चय तो अभेदरूप द्रव्य** का स्पष्टीकरण हुआ। यहाँ शुद्धनय के विषयभूत

शुद्धस्वभाव की बात नही है; यहाँ तो द्रव्य जिस पर्यायरूप परिणमित हुआ है, उस पर्याय के भावप्रमाण सम्पूर्ण द्रव्य को भी वैसा ही कहना – यह निश्चय है। तात्पर्य यह है कि शुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को शुद्धनिश्चय, शुद्धाशुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को मिश्रनिश्चय तथा अशुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को अशुद्धनिश्चय कहा है।

श्री प्रवचनसार शास्त्र मे भी यह बात ली गई है। प्रवचनसार की आठवी गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते है :–

परिणमदि जेण दव्वं तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ।।८।।

द्रव्य जिससमय जिसभावरूप से परिणमन करता है, उससमय वह उससे तन्मय है – ऐसा जिनेन्द्रभगवान ने कहा है; इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए।"

अहो ! कुन्दकुन्दाचार्य के परमागमो मे लाखो आगमशास्त्रो का मूल समाविष्ट है।

विशेषरूप से यहाँ यह कहा गया है कि जहाँ तक ससार अवस्था है, वहाँ तक व्यवहार है, सिद्धो के व्यवहार नही है। अर्थात् ससार है वही व्यवहार है और व्यवहार है वही संसार है – इसप्रकार **संसार व व्यवहार दोनों को एकरूप कहा है। संसारी सो व्यवहारी और व्यवहारी सो संसारी।**

इस विषय को जानने से यह समझना चाहिए कि जो जीव व्यवहार का अवलम्बन करता है, वह वास्तव मे ससार का ही अवलम्बन करता है। अज्ञानी जीव व्यवहार··· ·व्यवहार करता है, और उसके अवलम्बन से धर्म मानता है। परन्तु यहाँ तो ४०० वर्ष पूर्व आगमाभ्यासी पडित बनारसीदासजी कहते है कि व्यवहार और ससार दोनो एकरूप है। जो व्यवहारी है, वह ससारी है।

जो व्यवहार का अवलम्बन करता है, वह संसार मे भटकता है और जो शुद्धस्वभाव (कर्मसंयोग व विकाररहित आत्मस्वभाव) का अवलम्बन करता है, वह शुद्धता प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है, उसके व्यवहार नही रहता और वह व्यवहारातीत हो जाता है।

अज्ञानी व्यवहार··· व्यवहार करता है; किन्तु भाई ! तेरा तो जो व्यवहार है, वह भी अशुद्ध है, फिर भला तुझे उस अशुद्धता मे से शुद्धता कैसे प्राप्त होगी ? जिन्हें शुद्धव्यवहार है वे तो व्यवहार के अवलम्बन में अटकते ही नही, उनकी परिणति तो शुद्धस्वभाव की ओर ही झुकी हुई है। शुद्धस्वभाव की ओर झुकी हुई परिणति को ही यहाँ शुद्धव्यवहार कहा है – ऐसा शुद्धव्यवहार अज्ञानी के नही होता।

अब तीनों अवस्थाओं का विवरण लिखते हैं :–

जितने काल मिथ्यात्व अवस्था, उतने काल अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य अशुद्धव्यवहारी। सम्यग्दृष्टि होते ही चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य मिश्रव्यवहारी। केवलज्ञानी शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य शुद्धव्यवहारी।

यहाँ जो तीन प्रकार के भेद किए, वे किस-किस जीव को होते हैं – यह बतलाते है।

अज्ञानी जीव आत्मा के शुद्धस्वभाव को भूलकर, रागादि-अशुद्धतारूप ही अपने को मानता हुआ, अशुद्धतारूप ही परिणमन करता है, अतः उसके द्रव्य को **अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** कहा है। यद्यपि अशुद्धता तो क्षणिकपर्याय है, तथापि उसके सहकार से द्रव्य को अशुद्ध कहा जाता है। जब वही जीव शुद्धपरिणतिरूप परिणमन करता है, तब शुद्धपरिणति के सहकार से उसी द्रव्य को **शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** कहा जाता है।

अशुद्धपर्याय के समय भी शुद्धद्रव्यस्वभाव तो विद्यमान ही है, किन्तु अज्ञानी को इसका भान नही है। यदि उसे स्वभाव का भान

हो जाय तो उसको अकेला अशुद्धपरिणमन नही रहे, बल्कि वह साधक हो जाय।

साधक की आत्मा **मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य** है। सम्यग्दृष्टि साधक को शुद्धद्रव्य का भान हुआ है, उसकी परिणति कुछ तो शुद्धतारूप परिणमित हुई है और कुछ अशुद्धतारूप परिणमित हो रही है। इसप्रकार उसकी शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपरिणति है और इस मिश्रपरिणति के सहकार से उस द्रव्य को (चौथे से बारहवे गुणस्थान तक) मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य कहते है। उसप्रकार की परिणति से द्रव्य स्वय परिणमित हुआ है। अत· उस परिणति के सहकार से उस द्रव्य को भी वैसा कहा।

जिनकी परिणति पूर्ण शुद्धरूप से परिणमित हुई है, ऐसे केवलज्ञानी भगवन्तो की आत्मा को (तेरहवे-चौदहवे गुणस्थान मे) **शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** कहा है।

स्वभाव से तो वस्तु शुद्ध ही है, परन्तु अवस्था मे भी शुद्धरूप से परिणमन करे तब ही शुद्ध कहने मे आती है। समयसार की छठी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है :—

"एष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यः भिन्नत्वेनोपास्यमानत्वेन शुद्ध इत्यभिलप्यते।

यही आत्मा समस्त परद्रव्य के भावो से भिन्नपने सेवन किया गया शुद्ध – ऐसा कहा जाता है।"

अज्ञानी जीव शुद्धस्वभाव की उपासना नही करता, वस्तु को अशुद्धभावरूप ही अनुभव करता है, तथा अशुद्धतारूप ही परिणमन करता है; इसलिए उसे अशुद्ध कहा जाता है।

अशुद्ध, मिश्र अथवा शुद्धपरिणतिरूप से द्रव्य स्वयं परिणमन करता है, अतः वह परिणति उसका व्यवहार है और उसरूप से

परिणमित हुआ द्रव्य निश्चय है। ऐसा निश्चय-व्यवहार प्रत्येक जीव में वर्तता है।

जीव के निश्चय-व्यवहार जीव मे ही समाये हुए है। पुद्गल की परिणति – वह पुद्गल का व्यवहार है, और जीव की परिणति – वह जीव का व्यवहार है। जीव के भाव जीव में और पुद्गल के भाव पुद्गल में हैं। अतः दोनों के भाव स्वतंत्र हैं, उनमें मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अन्य कोई सम्बन्ध नही है।

द्रव्य सो निश्चय और पर्याय सो व्यवहार; अर्थात् द्रव्य निश्चयकारण है और पर्याय व्यवहारकारण है। जैसे – मोक्षमार्ग की पर्यायरूप से परिणमित शुद्धात्मद्रव्य निश्चय से मोक्ष का कारण है अर्थात् उसको 'कारणसमयसार' कहा है; और पर्याय का भेद करके कहने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। इसप्रकार अभेदद्रव्य का कथन करना निश्चय है और पर्याय के भेद का कथन करना व्यवहार है।

मोक्षमार्ग के प्रसङ्ग में अभेदद्रव्य को मोक्ष का साधन कहना निश्चय है और मोक्षमार्ग की शुद्धपर्याय को मोक्ष का साधन कहना व्यवहार है। इस व्यवहार में जो रत्नत्रय है, वह यद्यपि निश्चयरूप शुद्ध है, तथापि तीन भेद होने से व्यवहार कहा गया है। रागरूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्ष का साधन कहना तो मात्र उपचार है और वह उपचार भी ज्ञानी को ही होता है, अज्ञानी को तो उपचार-रत्नत्रय भी नही है।

अशुद्धपरिणतिरूप से परिणमित अज्ञानी जीव को अशुद्ध परिणति है, वह उसका व्यवहार है। यह **अशुद्धव्यवहार** है; और उस अशुद्धपरिणति से परिणमित द्रव्य **अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** है। इस **अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार** है। देखो ! यहाँ पर निमित्त के सहकार की बात नही ली गई है। द्रव्य को तो

उस-उस समय वर्तनेवाली अपनी पर्याय का सहकार है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व-अवस्था के समय आत्मा को अशुद्धपरिणति के सहकार से अशुद्ध कहा है, परन्तु कर्म के सद्भाव के कारण आत्मा को अशुद्ध नही कहा गया है।

साधकजीव को शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपरिणति है, ऐसी मिश्र-परिणतिरूप से द्रव्य स्वय परिणमित हुआ है। अत· उसे **मिश्र-निश्चयात्मकद्रव्य** और उसको सहकारी उसकी परिणति को **मिश्रव्यवहार** कहा है।

इसीप्रकार जिस आत्मा मे केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्धपर्याय परिणमित हुई है, वह **शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** है और उसकी सहकारी उसकी परिणति **शुद्धव्यवहार** है।

देखो ! एक द्रव्य का निश्चय-व्यवहार कितना विचित्र है। द्रव्य को निश्चय और परिणति को व्यवहार कहा है तथा इन दोनों को सहकारी कहा है। वस्तु को किसी पर का सहकार नही है, अपने ही द्रव्य-पर्याय मे एक दूसरे का सहकार है।

अशुद्ध उपादानरूप परिणमित द्रव्य को सहकारी अशुद्धपर्यायरूप व्यवहार है। मिश्र उपादानरूप द्रव्य को सहकारी मिश्रपर्यायरूप व्यवहार है। शुद्ध उपादानरूप परिणमित द्रव्य को सहकारी शुद्धपर्याय-रूप व्यवहार है।

ये तीनो प्रकार ससारी जीव के है। जहाँ तक ससार अवस्था है वहाँ तक व्यवहार है। अत· सिद्धो को **व्यवहारातीत** कहा जाता है। यद्यपि सिद्धभगवान को पर्याय तो है, परन्तु यहाँ **संसार-अवस्थित** जीव का ही विवेचन होने के कारण सिद्धो को **अनवस्थित** कहा है।

३

संसारावस्था के तीन व्यवहार

निश्चय तो द्रव्य का स्वरूप, व्यवहार – संसारावस्थित भाव, उसका अब विवरण कहते हैं :–

मिथ्यादृष्टि जीव अपना स्वरूप नहीं जानता, इसलिए परस्वरूप में मग्न होकर उसको अपना कार्य मानता है; वह कार्य करता हुआ अशुद्धव्यवहारी कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को परोक्षप्रमाण द्वारा अनुभवता है; परसत्ता – परस्वरूप से अपना कार्य न मानता हुआ योगद्वार से अपने स्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया करता है, वह कार्य करते हुए मिश्रव्यवहारी कहा जाता है।

केवलज्ञानी यथाख्यातचारित्र के बल से शुद्धात्मस्वरूप का रमणशील है, इसलिए शुद्धव्यवहारी कहा जाता है। योगारूढ़ अवस्था विद्यमान है, अतः व्यवहारी नाम कहते हैं। शुद्धव्यवहार की सरहद तेरहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त जानना। – 'असिद्धपरिणमनत्वात् व्यवहारः'।

निगोदसे लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त सभी संसारी जीवों की अवस्था के प्रकार इन तीनो विभागों में समा जाते हैं।

संसार के जीवों में बहुभाग तो मिथ्यादृष्टि जीवों का ही है। मिथ्यादृष्टि जीव निजात्मस्वरूप जानता नही है और 'शरीरादि की क्रिया, वह मै हूँ, राग जितना ही मैं हूँ' – इसप्रकार मानकर परस्वरूप में ही मग्न रहता है – अर्थात् अशुद्धपर्यायरूप से ही परिणमता है, इसलिये वह अशुद्धव्यवहारी है। अन्य द्रव्य के संयोग से हुई मनुष्यादि पर्याय वह वास्तव में आत्मस्वरूप नहीं है, किन्तु अज्ञानी

तो 'मैं ही मनुष्य हूँ' ऐसा मानकर ही वर्तन करता है, उसको आचार्य ने प्रवचनसार शास्त्र में व्यवहारमूढ – परसमय कहा है। भाई! 'मनुष्यव्यवहार' यह वास्तव में तेरा व्यवहार नहीं है; परन्तु शुद्ध-चेतना के विलासरूप जो आत्मव्यवहार है, वही तेरा व्यवहार है और तेरी शुद्धचेतनापर्याय ही तेरा व्यवहार है। तेरा व्यवहार तुझ में होगा या परद्रव्य में होगा? अरे! सोच तो सही, तेरा व्यवहार तुझ में और पर का व्यवहार पर में – यही न्यायमार्ग है।

प्रश्न :– व्यवहार को तो पराश्रित कहा है न?

उत्तर :– यहाँ **अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार** – यह विवक्षा है। भेद के विचार में जब तक पर का अवलम्बन है तब तक उसको भी पराश्रित कह सकते है, परन्तु जो भेदरूप भाव अर्थात् पर्याय है, वह अपने में ही उत्पन्न होती है, पर में नही होती है।

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है, वह मनुष्यादि देहरूप नहीं है। भाई! मनुष्यव्यवहार तो मिथ्यादृष्टि का है अर्थात् चेतनास्वरूप को भूलकर 'मै मनुष्य ही हूँ' – ऐसी देहबुद्धि से अज्ञानी प्रवर्तता है। 'मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह शरीर है' – इसप्रकार अहंकार-ममकार से अपने को ठगाता हुआ अविचलितचेतनाविलास-मात्र आत्मव्यवहार से च्युत होता है, और समस्त क्रियाकलापों से आकण्ठपूरित ऐसे मनुष्यव्यवहार का आश्रय करके रागी-द्वेषी होता है। इस कारण से अज्ञानी परद्रव्यरूप कर्म के साथ संगति करने से वास्तव में पर-समय है।[१] लोगों में मानवधर्म के नाम से अनेक घोटाले चल रहे हैं। यहाँ सन्त कहते हैं कि – 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी मिथ्याबुद्धि तो अधर्म है। भाई! तू तो आत्मा है, तेरा विलास चेतनारूप है; जड़ देह की क्रिया मे तेरा व्यवहार है ही कहाँ? और रागादि अशुद्ध-परिणति भी वास्तव में तेरा व्यवहार नही है, वह तो अशुद्धव्यवहार

---

[१] प्रवचनसार, गाथा ९४ की टीका

है। अरे मूढ़ ! तुझे क्या हो गया है ? अब तो समझ ! तेरा शुद्ध-व्यवहार तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धपरिणति में है, शुद्ध-चेतना परिणति वही तेरा आत्मव्यवहार है। अज्ञानी के अशुद्धपरिणति तो उसका अशुद्धव्यवहार है।

अरे जीव ! तेरा व्यवहार क्या और तेरा निश्चय क्या ? इसे भी तू नहीं जानता; अपने भावों को ही तू नहीं पहिचानता, तो किस-प्रकार तू धर्म करेगा ? अतः अपने भावों को तू भली प्रकार पहिचान, तभी तेरा हित हो सकेगा।

सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को परोक्षप्रमाण से अनुभवता है। सम्यक् मतिश्रुतज्ञान में इन्द्रिय और मन के अवलम्बन बिना जो रागरहित संवेदन होता है, उसकी अपेक्षा से वहाँ आंशिक प्रत्यक्षपना भी है, परन्तु मति-श्रुतज्ञान होने से उसे परोक्ष कहा है। इस सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण पं० टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी के विवेचन में आगया है। स्वानुभव से आत्मस्वरूप को जाना है, इसीकारण धर्मीजीव पर की क्रिया को अथवा पर के स्वरूप को अपना नहीं मानता; इनसे भिन्न ही अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है, और ऐसे निजस्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया में वर्तता है—यही उसका मिश्रव्यवहार है।

प्रश्न :— इसको मिश्रव्यवहार क्यों कहा ?

उत्तर :— चूंकि साधक को अभी पूर्ण शुद्धता हुई नहीं है, उसकी पर्याय में कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता—दोनों साथ-साथ वर्तती है, इसलिये उसको मिश्रव्यवहार कहा।

प्रश्न :— मिश्रव्यवहार तो चौथे से बारहवे गुणस्थान पर्यन्त कहा है; वहाँ बारहवें गुणस्थान में तो किंचित् भी रागादि अशुद्धता है नही; फिर वहाँ मिश्रपना कैसे कहा ?

उत्तर—राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धता वहाँ नहीं रही—यह बात तो ठीक; परन्तु वहाँ अभी ज्ञानादिगुणों की अवस्था अपूर्ण है अर्थात्

अल्प-ज्ञानादि की अपेक्षा से (उदयभावरूप अज्ञानभाव है इस अपेक्षा से) अशुद्धता परिगणित कर मिश्रभाव कहा।

प्रश्न :— यदि ऐसा है तो केवली भगवान के भी योग का कम्पन आदि उदयभाव है, इसलिये उनके भी मिश्रपना कहना चाहिये ?

उत्तर :— नही, केवली भगवान के ज्ञानादिपरिणति सम्पूर्ण शुद्ध हो गई है, और अब जो योग का कम्पन आदि है, वह नवीन कर्मसम्बन्ध का कारण नही होता, अर्थात् उनके अकेली शुद्धता ही मानकर शुद्धव्यवहार कहा है।

सम्यग्दृष्टि को मिश्रव्यवहार कहा है। वहाँ आत्मा और शरीर की मिलकर क्रिया होती है—ऐसा 'मिश्र' का अर्थ नही है; किन्तु अपनी पर्याय मे किंचित् शुद्धता और किंचित् अशुद्धता यह दोनो एकसाथ होने से मिश्र कहा है। आत्मा मे सम्यग्दर्शन होते ही चौथे गुणस्थान से आंशिक शुद्धता प्रगटी है, वहाँ से लेकर बारहवे गुणस्थान तक साधकदशा है। ऐसी परिणतिवाले जीव को 'मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' कहा है।

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धद्रव्य को जानता है, तो भी उसको 'शुद्ध-अशुद्ध-मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' क्यों कहा ?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि की निश्चयदृष्टि में—प्रतीति में कही शुद्धाशुद्ध आत्मा नही है, उसकी दृष्टि मे तो शुद्धात्मा ही है; परन्तु पर्याय में अभी उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा स्वरूपाचरणचारित्रादि शुद्धांशो के साथ रागादिक अशुद्धांश भी है, अत: उसकी शुद्ध और अशुद्ध—ऐसी मिश्रभावरूप अवस्था है; उस मिश्रभाव के साथ अभेदता मानकर उस द्रव्य को भी वैसा 'मिश्रनिश्चयात्मक' कहा है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर तो द्रव्य शुद्ध ही है, अशुद्धता उसमें है नही।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ।।६।।

अर्थात् आत्मा को शुद्धदृष्टि से देखो तो वह अप्रमत्त-प्रमत्त अथवा शुद्ध-अशुद्ध ऐसे भेदरहित एकरूप शुद्ध ज्ञायक है, और जो यह ज्ञायकस्वभाव विकाररूप नहीं हुआ – वह सम्यग्दर्शन का विषय है। पर्याय में शुद्ध-अशुद्धपना आदि प्रकार है। जब ऐसा ज्ञायकस्वभाव उपास्य बनाया जावे तब पर्याय शुद्ध होती है और जब इस स्वभाव को भूलकर विकार में ही लीनता रहे, तब पर्याय अशुद्ध होती है। इस शुद्ध अथवा अशुद्ध पर्याय के साथ अभेदता से द्रव्य को भी शुद्ध, अशुद्ध अथवा मिश्र कहा गया है, क्योंकि उस-उस काल मे वैसे भाव-रूप द्रव्य स्वयं परिणमा है, द्रव्य का ही वह परिणमन है, द्रव्य से भिन्न किसी अन्य का परिणमन नहीं है।

देखो, साधकदशा में शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही एक साथ एक ही पर्याय मे हैं, तथापि दोनों की धारा भिन्न-भिन्न है, शुद्धता तो शुद्धद्रव्य के आश्रय से है और अशुद्धता पर के आश्रय से है – दोनों की जाति जुदी है। दोनों साथ होने पर भी जो अशुद्धता है, वह वर्त्तमान में प्रगट हुई शुद्धता का नाश नहीं कर देती – ऐसी मिश्रधारा साधक के होती है।

तेरहवें-चौदहवे गुणस्थान में केवलीभगवान पूर्ण यथाख्यात-चारित्र के बल से शुद्धात्मस्वरूप में ही रमणशील है। यद्यपि यथाख्यातचारित्र तो बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण था, परन्तु वहाँ अभी केवलज्ञान नही था; अब केवलज्ञान और अनन्तसुख प्रगट होने से पूर्ण इष्टपद की प्राप्ति हुई। साध्य था, वह सध गया और आवरण का अत्यन्त अभाव हो गया; इसलिये शुद्धपरिणतिरूप शुद्धव्यवहार कहा। तेरहवे गुणस्थान में योगारूढ़ दशा अर्थात् योगो का कम्पन है और चौदहवें में कम्पन नहीं है, परन्तु वहाँ अभी असिद्धत्व है

अर्थात् ससारीपना है, अतः वहाँ तक व्यवहार कहा गया है। सिद्ध-भगवान ससार से पार है, इसलिये वे व्यवहारातीत है। जहाँ तक असिद्धपना है, वहाँ तक व्यवहार है, सिद्धजीव व्यवहार-विमुक्त हैं। वैसे तो दृष्टिअपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को भी व्यवहार-विमुक्त कहा है, परन्तु यहाँ तो परिणति अपेक्षा से बात है। जहाँ तक संसार है वहाँ तक व्यवहारपरिणति मानी गई हैं, सिद्ध को व्यवहार से रहित कहा है। शास्त्रो मे जहाँ जो विवक्षा हो वही समझना चाहिए।

इसप्रकार ससारी जीव की अवस्था के अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध – तीन भेद बतलाये। ससार में से मोक्ष जानेवाले प्रत्येक जीव की यह तीनो अवस्थाये हो जाती है। अशुद्धता तो अज्ञानदशा मे सर्व संसारी जीवो के अनादि से वर्त रही है; पश्चात् आत्मज्ञान होने पर साधन-भावरूप मिश्रदशा प्रगट होती है, और शुद्धता वृद्धिगत होते-होते केवलज्ञान होनेपर साध्यरूप पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होती है, पश्चात् अल्पकाल मे मोक्षपद प्राप्त होता है। अशुद्धदशा तो आस्रव-बन्धतत्त्व है, मिश्रदशा मे जितनी शुद्धता है, उतनी सवर-निर्जरा है, तथा अल्प अशुद्धता है, वह आस्रव-बन्ध है, और पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई वह भावमोक्ष है। द्रव्यमोक्षरूप सिद्धदशा की बात यहाँ नही ली है, क्योकि संसारी जीवो की ही यहाँ बात है।

अज्ञानी के मात्र अशुद्धता है; चौथे गुणस्थान से कुछ शुद्धता और साथ मे राग भी है – इसप्रकार मिश्रपना है, बारहवें गुणस्थान मे वीतरागता है अर्थात् वहाँ राग नही है, परन्तु ज्ञानादिगुणो की अवस्था अपूर्ण है, इसलिए वहाँ भी मिश्रभाव कहा। केवलज्ञानी के ज्ञानादि पूर्ण हो गये है, इसलिए शुद्धता मानी; तथापि अभी (तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान मे) सिद्धपना नही है अर्थात् असिद्धत्व होने से उनको भी व्यवहार मे परिगणित किया; क्योकि शरीर के साथ अभी उसप्रकार का सम्बन्ध है और परिणति मे उसप्रकार की

योग्यता है। जब सिद्धदशा हुई तब व्यवहार छूट गया....और व्यवहार छूटा, वहाँ संसार छूटा अर्थात् व्यवहारातीत हुआ, वहाँ संसारातीत हुआ।

प्रश्न :– यहाँ चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार कहा, सिद्ध को व्यवहारातीत कहा, किन्तु समयसारादि में तो सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान से ही व्यवहार का निषेध कहा है ?

उत्तर :– भाई ! वहाँ भी जो व्यवहार है, उसका अस्वीकार नहीं किया है; हाँ, उस व्यवहार का आश्रय करने से इन्कार किया है। जिस भूमिका में जो व्यवहार हो उसे तो जानना परन्तु उसका आश्रय मत करना – ऐसा वहाँ कहने का आशय है। यदि उसके अवलम्बन से लाभ मानेगा तो उस व्यवहार के विकल्प में ही अटक जायेगा और परमार्थ का अनुभव नहीं हो सकेगा। जिनमत में प्रवर्तने के लिये दोनों नय जानने योग्य कहे है, किन्तु आश्रय करने योग्य तो मात्र एक भूतार्थस्वभाव ही है। अतः व्यवहार का ज्ञान मत छोड़ो, किन्तु उसका आश्रय छोड़ो और परमार्थ का आश्रय करो – ऐसा उपदेश है।

इसीप्रकार यहाँ भी संसारावस्था में किस जीव का कैसा व्यवहार होता है, उसका ज्ञान कराया है; किन्तु उसका आश्रय करने के लिये नही कहा। एक त्रिकाली अखण्ड द्रव्य को संसारी और सिद्ध ऐसे दो अवस्थाभेद से लक्ष में लेना भी व्यवहार है, और उस भेद के लक्ष से निर्विकल्पता नही होती। एकरूप अभेद द्रव्यस्वभाव को दृष्टि में लेना, वह निश्चय है तथा उसी के लक्ष से निर्विकल्पदशा की प्राप्ति होती है।

प्रश्न :– क्या व्यवहार मिथ्यात्व है ?

उत्तर :– नही भाई ! व्यवहार स्वयं मिथ्यात्व नही है, व्यवहार तो ज्ञानी को भी होता है; यहाँ तो चौदहवे गुणस्थान पर्यंत व्यवहार

कहा है, वह व्यवहार मिथ्यात्व नही है; परन्तु व्यवहार के – भेद के अवलम्बन में अटककर उससे लाभ माने तो अवश्य मिथ्यात्व है।

समयसार नाटक मे कहा है कि असंख्यातप्रकार के जो मिथ्यात्व-भाव है, वे व्यवहार है; तथा जिसका मिथ्यात्व छूटा और सम्यक्त्व हुआ, वह जीव निश्चय मे लीन है और व्यवहार से मुक्त है। वहाँ ऐसा आशय समझना कि जो मिथ्यात्वभाव है वह किसी न किसी प्रकार से व्यवहाराश्रित है, अतः जितने प्रकार मिथ्यात्व के कहे उतने ही प्रकार व्यवहार के कहे, परन्तु इसका अभिप्राय ऐसा नही समझना कि जो व्यवहार है, वही मिथ्यात्व है। सम्यग्दृष्टि को व्यवहार तो भूमिकानुसार होता है, परन्तु उसे व्यवहार का आश्रय करने की बुद्धि नही है, अतः उसके मिथ्यात्व नही है।

अब संसार-अवस्था में स्थित जीव की तीनों अवस्थाओं का अर्थात् तीनों प्रकार के व्यवहारों का स्वरूप कहते हैं :–

अशुद्धव्यवहार शुभाशुभाचाररूप है, शुद्धाशुद्धव्यवहार शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरणरूप है, शुद्धव्यवहार शुद्धस्वरूपाचरण-रूप है। परन्तु विशेष इतना कि कोई कहे कि शुद्धस्वरूपाचरण तो सिद्ध में भी विद्यमान है, इसलिये वहाँ भी व्यवहार संज्ञा कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि संसारावस्था तक व्यवहार कहा जाता है तथा संसारावस्था मिटने पर व्यवहार भी मिटा कहा जाता है; ऐसी यहाँ स्थापना की है। इसप्रकार सिद्ध व्यवहारातीत कहे जाते हैं।

इति व्यवहार विचार समाप्त।

अज्ञानी को शुभाचाररूप तथा अशुभाचाररूप अशुद्धव्यवहार है, उस शुभाशुभ आचरण मे शुद्धता नही है। मिथ्यादृष्टि को शुभा-शुभराग का ही आचरण होता है, शुद्धाचरण नही होता। कोई कहे कि शुभभाव शुद्धभाव का कारण है – तो कहते है कि नही है।

शुभाचरण स्वयं अशुद्ध है – यह बात पं० बनारसीदासजी भी ४०० वर्ष पहले स्पष्ट कह गए हैं और जैनसिद्धान्त मे अनादि से यही बात सन्त कहते आए है। शुभाचरण स्वयं अशुद्ध है, वह शुद्धता का कारण कैसे हो सकता है ? इसप्रकार मिथ्यादृष्टि को जो अशुभ या शुभ आचरण है, उसे अशुद्धव्यवहार जानना।

साधक का मिश्रव्यवहार कैसा है ? उसको शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरण है, वह शुद्धाशुद्ध मिश्रव्यवहार है। सम्यग्दर्शन होते ही चौथे गुणस्थान से स्वरूपाचरण प्रकट हुआ, वह शुद्धता का अंश है और वहाँ शुभराग भी है, वह अशुद्धता है – इसप्रकार साधक को शुद्धाशुद्धरूप मिश्रव्यवहार है।

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि को चतुर्थादि गुणस्थानों में अशुभभाव भी होता है, तथापि यहाँ स्वरूपाचरण को शुभमिश्रित ही क्यों कहा ? अशुभ की बात क्यों नही की ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि को अशुभ की प्रधानता नही है, शुभ की प्रधानता है; इसलिए अशुभ की गणना नही की। आगम में अशुभ की प्रधानता मिथ्यादृष्टि को ही मानी गई है। सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ-पंचम-षष्ठम गुणस्थान मे शुभोपयोग की प्रधानता है, साथ में शुद्ध-परिणति भी होती है; अतः उसके शुद्ध के साथ शुभ का ही मिश्रपना माना गया है। देखो ! इसमें यह बात भी आ गई कि सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग भी अशुद्ध ही है, वह धर्म नहीं है।

प्रश्न :– यहाँ साधक के मिश्रव्यवहार को शुभोपयोगमिश्रित कहा, परन्तु ऊपर बारहवे गुणस्थान में शुभोपयोग है तो नही, तब मिश्रव्यवहार कैसे है ?

उत्तर :– वहाँ शुभोपयोग नहीं है, यह बात तो ठीक है; परन्तु अभी ज्ञान-दर्शन-वीर्य-आनंद आदि अपूर्ण है, अर्थात् ज्ञान के साथ औदयिक अज्ञान भी है; इस अपेक्षा से वहाँ भी मिश्रव्यवहार समझना।

सिद्धान्त मे अज्ञान का उदय बारहवे गुणस्थान तक कहा है और असिद्धत्वरूप औदयिकभाव चौदहवें गुणस्थान तक है। जब तक उदयभाव है, तव तक संसार है और जब तक ससार है, तब तक व्यवहार है।

केवली भगवान के शुद्धव्यवहार है, वह कैसा है ? केवलज्ञान-सहित शुद्धस्वरूपाचरणरूप शुद्धव्यवहार है। उनके अव साधकपना रहा नही और सिद्धपद भी अभी प्राप्त हुआ नही, किन्तु साध्यरूप परम-इष्ट परमात्मदशा उन्हें प्रकट हो गई है; अत· अरिहन्तो के शुद्धस्वरूपाचरणरूप शुद्धव्यवहार होता है।

प्रश्न :— शुद्धस्वरूपाचरण तो सिद्ध भगवान के भी होता है ऐसी दशा मे उनके भी शुद्धव्यवहार क्यो नही कहते ?

उत्तर — इसका स्पष्टीकरण हो चुका है कि यहाँ ससार-अवस्थावाले जीवो का ही कथन है, इसलिए ससार-अवस्था तक ही व्यवहार कहा है। चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धत्व है तथा कितने ही गुणों का विभाव परिणमन और कर्म सयोग है, अतः वहाँ तक ही व्यवहार माना है; सिद्धदशा मे किसीप्रकार का विभाव तथा कर्म सयोग है नही, इसलिये संसारातीत ऐसे सिद्ध भगवान को व्यवहारातीत कहा गया है।

वारहवे गुणस्थान मे भी यथाख्यात चारित्र है, तथापि वहाँ शुद्धव्यवहार न कहकर मिश्रव्यवहार क्यो कहा ? इस सम्वन्धी स्पष्टीकरण भी पहले किया जा चुका है।

इसप्रकार ससारी जीवों मे ससार-अवस्थारूप व्यवहार है, उसका स्वरूप तीन भेद करके समझाया, अतः व्यवहारविचार समाप्त हुआ। अव उन ससारी जीवों मे आगमरूप तथा अध्यात्मरूप भाव किसप्रकार है—सो कहते है।

अब आगम अध्यात्म का स्वरूप कहते हैं :–

वस्तु का जो स्वभाव उसको आगम कहते हैं और आत्मा के अधिकार को अध्यात्म कहते हैं; आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानना। ये दोनों भाव संसार-अवस्था में त्रिकालवर्त्ती मानना।

उसका विवरण – आगमरूप कर्मपद्धति, अध्यात्मरूप शुद्ध-चेतनापद्धति।

उसका विवरण – कर्मपद्धति पौद्‌गलिकद्रव्यरूप अथवा भाव-रूप; द्रव्यरूप पुद्‌गलपरिणाम, भावरूप पुद्‌गलाकार आत्मा की अशुद्धपरिणतिरूप परिणाम; उन दोनों परिणामों को आगमरूप स्थापित किया।

अब शुद्धचेतनापद्धति शुद्धात्मपरिणाम; वह भी द्रव्यरूप अथवा भावरूप। द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम, भावरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्तगुण परिणाम; वे दोनों अध्यात्मरूप जानना।

आगम-अध्यात्म दोनों पद्धतियों में अनन्तता माननी।

वस्तु के स्वभाव का अर्थ यहाँ त्रिकालीस्वभाव नहीं समझना चाहिए किन्तु पर्याय का स्वभाव समझना चाहिए। संसारी जीव की पर्याय में विकार की परम्परा अनादि से चली आई है तथा उसके निमित्तरूप कर्म की परम्परा भी अनादि से चली आई है, उसको यहाँ आगमपद्धति कहते है। यह आगमपद्धति अशुद्ध है अर्थात् उसमें आत्मा का अधिकार नही कहा; अध्यात्मपद्धति शुद्धपर्यायरूप है अर्थात् उसमें आत्मा का अधिकार कहा। आगमरूप अशुद्धभाव और अध्यात्मरूप शुद्धभाव – इन दोनों भाववाले जीव संसार-अवस्था में सदा होते ही हैं अर्थात् संसारावस्था में इन दोनो भावों को त्रिकालवर्ती कहा।

ससार मे साधक और बाधक जीव सदा रहते ही है। ससार मे कभी मात्र अशुद्धपर्यायवाले जीव ही रह जावे और शुद्धपर्यायवाले जीव न रहे – ऐसा कभी बन नही सकता; अथवा सभी जीव शुद्धपर्यायवाले हो जावे और अशुद्धपर्यायवाला कोई जीव न रहे – ऐसा भी कभी हो नही सकता। साराश यह है कि अशुद्धभावरूप आगमपद्धति और शुद्धभावरूप अध्यात्मपद्धति – यह दोनो भाव ससार में त्रिकाल वर्तते है। यह बात ससार मे रहनेवाले भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा से समझना; अर्थात् कोई जीव शुद्धपर्यायवाला, कोई अशुद्धपर्यायवाला, कोई मिश्रपर्यायवाला होगा – इसप्रकार दोनो भाव त्रिकालवर्ती मानना, किन्तु एक ही जीव मे यह भाव सदा रहते है – ऐसा नही समझना, अन्यथा अशुद्धता का अभाव होकर शुद्धता नही हो सकेगी, अथवा शुद्धपर्याय भी अनादि की ठहरेगी।

एक जीव अपनी पर्याय मे से अशुद्धता का अभाव करके शुद्धता प्रकट कर सकता है, किन्तु जगत मे सभी जीवो के अशुद्धभाव का सर्वथा अभाव होकर शुद्धता हो जाय – ऐसा कभी होनेवाला नही, जगत मे सभी भाववाले जीव सदा रहेगे। सिद्ध भी जगत मे अनादि से होते आए है और निगोद भी अनादि से ही है, मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि तथा अज्ञानी व केवलज्ञानी भी अनादि से ही है; इस भाँति से सभी प्रकार के जीव जगत मे सदा रहनेवाले है। कोई जीव समस्त जगत मे से अज्ञान अथवा अशुद्धता का अभाव करना चाहे तो यह कभी हो सकता नही। हाँ, स्वय अपनी आत्मा मे से अज्ञान और अशुद्धता मिटाकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्रकट कर सकता है।

जितना शुभाशुभ व्यवहारभाव है, वह सब आगमपद्धति मे है; आगमपद्धति, बंधपद्धति अथवा कर्मपद्धति है – उसमे धर्म नही है; धर्म तो अध्यात्मपद्धति मे है और वही मोक्षमार्गरूप है, वही शुद्धभावरूप है। इस शुद्धभावरूप अध्यात्मपद्धति में आत्मा का अधिकार

कहा, किन्तु आगमपद्धति मे नही; क्योंकि वह आत्मा के स्वभावरूप नही है अपितु विभावरूप है।

यहाँ आगमपद्धति कही गई है, उसमे आगम का अर्थ सिद्धान्त-रूप शास्त्र मत समझना, किन्तु आगमपद्धति का अर्थ अनादि से चली आई परम्परा अथवा आगन्तुकभाव समझना। विकारीभाव नवीन आगन्तुकभाव है, स्वभाव मे वे नही है, किन्तु कर्म के निमित्त से पर्याय में नये-नये उत्पन्न हुए है और अनादि से उनका प्रवाह चला आया है। विकार और उनके निमित्तरूप – कर्म इन दोनों का प्रवाह अनादि से चला आया है, उसका नाम आगमपद्धति है; तथा जीव मे जो नवीन अपूर्व अध्यात्मदशा अर्थात् शुद्धपर्याय प्रकट होती है, वह अध्यात्मपद्धति है। इन दोनो प्रकार के भावों का सद्भाव जगत में सदा पाया जाता है। अतः उनका विवेचन अब करते हैं।

शुद्धचेतनापद्धति अर्थात् शुद्धात्मपरिणाम; यह भी द्रव्यरूप तथा भावरूप से दो तरह के है। द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम, तथा भावरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्त गुणपरिणाम – ये दोनो परिणाम अध्यात्मरूप जानना।

इन आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियों मे अनन्तता मानना।

देखो! यह सूक्ष्म बात है, परन्तु है तो जीव के अपने परिणाम की ही बात। जीव की पर्याय में किस-किस प्रकार के भाव होते है, उन्हे समझने की यह बात है।

आत्मा की परिणति में अशुद्धता अनादि से है, वह स्वभावगत भाव नहीं है, किन्तु आगन्तुक विकारीभाव है। वह परिणाम स्वभाव-आकाररूप नहीं है, इसलिये उसको पुद्गलाकार कहा है; क्योकि पुद्गलकर्म उसमें निमित्त है। पुद्गलकर्म की परम्परा तो द्रव्यरूप कर्मपद्धति है और उसके निमित्त से होनेवाली जीव की विकाररूप परम्परा, भावरूप कर्मपद्धति है। इसप्रकार द्रव्य और भावकर्म

की परम्परारूप आगमपद्धति है। इन दोनो भावो को जीवद्रव्य का कहा है।

प्रश्न – द्रव्यकर्म की परम्परा तो पुद्गल की पर्याय है फिर भी यहाँ उसको जीव का भाव क्यों कहा ?

उत्तर – वह पुद्गल की पर्याय है, यह बात बराबर सत्य है, परन्तु जीव के अशुद्धभाव के साथ उसका सम्बन्ध है, जीव के अशुद्ध-भाव के साथ मिला हुआ उसका परिणमन है, इसलिये यहाँ कर्मपद्धति को भी जीव का भाव कह दिया है। जीव के साथ जिनका सम्बन्ध नही है, ऐसे दूसरे अनन्त परमाणु भी जगत में है, किन्तु उनकी यहाँ बात नही है; यहाँ तो जीव के परिणाम के साथ जिनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है – ऐसे पुद्गलो की बात है। मकान-शरीर-वस्त्रादि का सम्बन्ध तो जीव को कभी हो और कभी न भी हो, परन्तु ससार मे जीव को कर्म का सम्बन्ध तो सदैव होता है; इस सम्बन्ध को बताने के लिए उसको भी जीव का भाव कहा – ऐसा समझना चाहिए।

आत्मद्रव्य और उसके ज्ञानादि गुणो के जो शुद्ध परिणाम है, वे अध्यात्मपद्धतिरूप है। यह अध्यात्मपद्धति शुद्धचेतनारूप है अर्थात् उसमे विकार अथवा कर्मो का सम्बन्ध नही है। द्रव्य के शुद्धपरिणाम तो द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति हैं और ज्ञान-श्रद्धा-चारित्रादि गुणो के शुद्धपरिणाम भावरूप शुद्धचेतनापद्धति हैं।

इसप्रकार ये दोनों परिणाम अध्यात्मरूप जानना।

८

आगम-अध्यात्मपद्धति की अनन्तता

आगमपद्धति मे ससारमार्ग का और अध्यात्मपद्धति मे मोक्षमार्ग का वर्णन है। जिनसे कर्मबन्धन हो, वे सभी भाव आगमपद्धति मे समाविष्ट है; व्यवहाररत्नत्रय मे जो शुभराग है, वह भी आगमपद्धति में गर्भित है। शुद्धचेतनारूप जितने भाव है, वे अध्यात्मपद्धति में आते है। इसप्रकार दोनों पद्धतियो की धारा परस्पर भिन्न है। इन दोनों पद्धतियों में अनन्तता स्वीकार करना। आत्मा के विकारीभावों में अनन्त प्रकार है और उनमें निमित्तरूप कर्म भी अनन्त प्रकार के है; आत्मा के निर्मल परिणामों में भी अनन्त गुणों के अनन्त प्रकार-है; ज्ञानादि गुणों के परिणमन मे भी अनन्त प्रकार है। इसतरह अशुद्धता और शुद्धता दोनों में ही अनन्तता समझना।

जिसप्रकार समयसार मे अज्ञानी को पुद्गलकर्म के प्रदेश में स्थित कहा; उसीप्रकार यहाँ अशुद्धपरिणाम को पुद्गलाकार कहा; वह आत्मा के स्वभाव की जाति का नही है इसलिए उसको आत्माकार नही कहा। आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाला परिणाम शुद्ध परिणाम है, वह आत्माकार है; उसमें पुद्गल का सम्बन्ध नही है। आत्मा के स्वभाव से सम्बन्धित भाव ही आत्मा को सुख का कारण हो सकता है; पुद्गल से सम्बन्धित भाव कदापि आत्मा को सुख का कारण नही हो सकता, अतः वह भाव उपादेय भी नही हो सकता।

वह भाव तो आगन्तुक है, वह अन्दर से प्रगट नही हुआ है और अन्दर रहनेवाला भी नही है। वास्तव मे उस भाव में आत्मा नही है, मोक्षमार्ग नही है; क्योकि किसी भी शुभाशुभभाव मे आत्मा का अधिकार नही है; बल्कि आस्रव का अधिकार है, बन्ध का अधिकार है। यह विकारीभाव आस्रव-बन्धतत्त्व के अधीन है, आत्मा के स्वभाव को उनका स्वामित्व नही है; अत: उसमें आत्मा का अधिकार नही है। आत्मा का अधिकार तो शुद्धचेतनापरिणति मे ही है।

आगमपद्धति तो उदयभावरूप है और अध्यात्मपद्धति उपशम, क्षायिक अथवा सम्यक् क्षयोपशमभावरूप है। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध और अजीवकर्म का समावेश आगमपद्धति मे होता है, तथा सवर, निर्जरा, मोक्ष एव शुद्धजीव का समावेश अध्यात्मपद्धति में होता है। इसप्रकार दोनो पद्धतियाँ एक दूसरे से विलक्षण है, उनका स्वरूप पहचाने तो भेदज्ञान होकर मोक्षमार्ग प्रगट हो जाय; अर्थात् अपने मे अध्यात्म की परम्परा विकसित होने लगे और आगम की (कर्म तथा अशुद्धता की) परम्परा मुरझाने लगे, इसका नाम धर्म है। ऐसी अध्यात्मपद्धति का प्रारम्भ चतुर्थगुणस्थान से होता है। चतुर्थ से चतुर्दशगुणस्थान तक अध्यात्मपद्धति है; परन्तु भूमिकानुसार जितनी अशुद्धता और कर्म का सम्बन्ध है, उतनी आगमपद्धति है; उसके सर्वथा छूट जाने पर ससार छूट जाता है और सिद्धदशा प्रगट होती है; पश्चात् पुद्‌गलकर्म के साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध नही रहता और ससार की अनादि से प्रवाहित परम्परा का भी आत्यन्तिक मूलोच्छेद हो जाता है।

अज्ञानी आगमपद्धति अर्थात् विकार एवं कर्म के सम्बन्ध को ही जीव का स्वरूप मानता है, जीव के वास्तविक स्वरूप को जानता ही नही। अत: उसको तो अध्यात्म अथवा आगम मे से किसी भी पद्धति का यथार्थबोध नही है; क्योकि अज्ञानी ने तो शुभरागरूप आगमपद्धति

को ही अध्यात्मपद्धति मान लिया है। यह बात आगे विस्तार से आयेगी। आगम और अध्यात्म का सच्चा परिज्ञान सम्यग्ज्ञानी को ही होता है।

संसार में आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियाँ त्रिकाल है, किन्तु व्यक्तिगत एक जीव को आगमपद्धति अनादि की है और अध्यात्म-पद्धतिरूप साधकदशा असंख्यसमय की ही होती है। कोई भी जीव साधकदशा में अधिकाधिक असंख्यसमय तक ही रह सकता है, इससे अधिक नही; तथा कोई जीव साधकदशा में अल्प से अल्प काल ही रहकर सिद्ध हो, तो भी साधकदशा का काल असंख्यसमय तो होगा ही, यह नियम है। संसार मे सभी जीवों को ये भाव अध्यात्मपद्धति-रूप हों, ऐसा नियम नही है।

अब आगम और अध्यात्म पद्धतियों में अनन्तता का विचार लिखते हैं।

अनन्तता का स्वरूप दृष्टान्त से दर्शाते है। जैसे – बड़ के वृक्ष का एक बीज हाथ में लेकर उसके ऊपर दीर्घदृष्टि से विचार करें तो बड़ के उस बीज में एक बड़ का वृक्ष है, भाविकाल में जैसा कुछ वृक्ष होनेवाला है, वैसे विस्तारसहित वह उस बीज में वास्तविक विद्यमान है, अनेक शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्प-फलयुक्त है, उसके प्रत्येक फल में ऐसे अनेक बीज है।

इसप्रकार की अवस्था एक बड़ के बीज में विचारना। पुनः सूक्ष्मदृष्टि से देखे तो उस बड़ के वृक्ष में जो-जो बीज हैं, वे अन्त-र्गभित बड़वृक्षसंयुक्त हैं। इसप्रकार एक बड़ में अनेक-अनेक बीज और एक-एक बीज में एक-एक वृक्ष, उनका विचार करें तो भाविनय की प्रधानता से न तो बड़वृक्ष की और न उसके बीजों की मर्यादा प्राप्त हो।

इसीप्रकार अनन्तता का स्वरूप जानना।

उस अनन्तता के स्वरूप को केवलज्ञानी पुरुष भी अनन्त देखते-जानते-कहते हैं; अनन्त का दूसरा अन्त है ही नहीं कि जो ज्ञान में भासित हो, इसलिये अनन्तता अनन्तरूप ही प्रतिभासती है।

इस भाँति आगम और अध्यात्म की अनन्तता जानना।

अनन्तता को समझाने के लिए यहाँ वृक्ष और बीज का दृष्टान्त दिया है। वृक्ष और बीज की परम्परा अनादि से है, पहले वृक्ष अथवा पहले बीज ? भाई ! परम्परा की दृष्टि से दोनो अनादि से है और सूक्ष्म विचार करने पर प्रत्येक बीज मे भविष्य के अनन्त वृक्ष होने की शक्ति है—इसप्रकार दोनो की परम्परा विचार करने पर कही पार नही आता। जीव मे भी विकार और कर्म की परम्परा अनादि से चली आ रही है और शुद्धपर्याय का प्रवाह भी जगत मे अनादि से ही है। प्रथम सिद्ध या संसारी ? —दोनो अनादि से ही है। प्रथम विकार या कर्म ? —दोनो की परम्परा अनादि से है। प्रथम द्रव्य या पर्याय ? प्रथम सामान्य या विशेष ? —दोनो ही अनादि से है; इनमे प्रथम-पश्चात् नही।

यदि 'द्रव्य की प्रथम पर्याय यह है'—ऐसा कहे तो द्रव्य की ही आदि हो जायेगी और द्रव्य अनादि नही रहेगा। इसीप्रकार 'द्रव्य की अन्तिम पर्याय यह है'—ऐसा कहे तो वहाँ द्रव्य का ही अन्त हो जायेगा और द्रव्य अनन्त नही रहेगा। एक-एक पर्याय सादि-सात भले हो, किन्तु पर्याय के प्रवाह का आदि-अन्त नही है; अर्थात् द्रव्य की यह पर्याय प्रथम और यह अन्तिम—ऐसा आद्यन्तपना नही है। द्रव्य में पर्याय का प्रवाह पहले नही था और बाद मे प्रारम्भ हुआ, अथवा वह प्रवाह कभी अवरुद्ध हो जाये—ऐसा नही है। जिसप्रकार द्रव्य अनादि-अनन्त है, उसीप्रकार उसकी पर्याय का प्रवाह भी अनादि-अनन्त वर्त्त रहा है और वह सब केवलज्ञान में स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है। देखो तो सही ! इस जगत की वस्तुस्थिति ! अनादि को

अनादिरूप से और अनन्त को अनन्तरूप से ज्यों का त्यों केवली भगवान विकल्प बिना ही जानते हैं।

प्रश्न :– प्रथम पर्याय कौनसी और अन्तिम कौनसी ? क्या यह भगवान भी नहीं जानते ?

उत्तर :– वस्तु जैसी है, वैसी भगवान जानते हैं या उससे विपरीत ? जो अनादि है उसकी तो आदि है ही नहीं, तो फिर भगवान उसकी आदि कैसे जानेंगे ? और जो अनन्त है उसका तो अन्त है ही नहीं, तो भगवान उसका अन्त भी कैसे जानेंगे ? यदि भगवान उसके आदि-अन्त को जान ले तो अनादि-अनन्तपना ही कहाँ रहा ? भाई ! यह तो स्वभाव का अचिन्त्य विषय है। अहो ! अनन्तता जिस ज्ञान में समा गई, उस ज्ञान की दिव्य अनन्तता लक्ष में लेने पर ज्ञान उसमे ही (ज्ञानस्वभाव की अनन्त महिमा मे ही) डूब जाता है, अर्थात् ज्ञान स्थिर हो जाता है, निर्विकल्प हो जाता है।

प्रश्न :– यदि अनन्त का अन्त भगवान भी नही जानते, तब तो उनका ज्ञानसामर्थ्य मर्यादित हो गया ? केवलज्ञान मे अपरिमित सामर्थ्य सिद्ध नही हुई ?

उत्तर :– नही, भगवान यदि अनन्त को अनन्तरूप से न जानते हो तो उनका ज्ञानसामर्थ्य मर्यादित कहा जाय; परन्तु भगवान तो केवलज्ञान की असीम सामर्थ्य से अनन्त को अनन्तरूप से प्रत्यक्ष जानते है। भगवान उसका अन्त नही जान सके, इसलिये उसे अनन्त कह दिया – ऐसा नही है। भगवान ने अनन्त को अनन्तरूप से जाना है, इसलिये उसे अनन्त कहा है। अनन्त को भी सर्वज्ञ जानते है, यदि न जाने तो सर्वज्ञ कैसे कहे ?

प्रश्न :– जब भगवान ने अनन्त को जान लिया तो उनके ज्ञान में उसका अन्त आया या नही ?

उत्तर :— नही, भगवान ने अनन्त को अनन्तपने जाना है, अनन्त को अन्तरूप से नही जाना। भगवान अनन्त को नही जानते — ऐसा भी नही और भगवान के जानने से उसका अन्त आ जाता है — ऐसा भी नही। अनन्त तो अनन्तपने रहकर ही सर्वज्ञ के ज्ञान मे ज्ञात होता है। यदि अनन्त को अन्तरूप से जाने तो वह ज्ञान खोटा; और यदि अनन्त को जान ही न सके तो वह ज्ञान अपूर्ण है।

प्रश्न :— जो अनन्त है, वह भला ज्ञान मे कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर :— भाई ! ज्ञानसामर्थ्य की अनन्तता अति महान है, इसलिए असीम ज्ञानसामर्थ्य अनन्त के पार मे पहुँच जाती है। ज्ञान का अचिन्त्य सामर्थ्य लक्ष मे आवे तभी यह बात गले उतर सकती है। विकार मे अटका हुआ ज्ञान मर्यादित है, वह अनन्त को प्रत्यक्ष-रूप नही जान सकता; किन्तु निर्विकार ज्ञान मे तो बेहद अचिन्त्य-शक्ति है। अत वह अनादि-अनन्तकाल को, अनन्तानन्त आकाश प्रदेशो को साक्षात् जान लेता है। अरे ! ज्ञान मे तो अनन्तगुणी सामर्थ्य विकसित हुई है।

प्रश्न :— यहाँ वृक्ष और बीज के दृष्टान्त द्वारा विकार और कर्म की परम्परा भी अनन्त कही, ऐसी दशा मे विकार का नाश होकर मोक्ष कैसे होगा ?

उत्तर :— वृक्ष और बीज की परम्परा सामान्यरूप से अनन्त है, परन्तु फिर भी सभी बीजो मे से वृक्ष उगे ही — ऐसा नियम नही है; अनेक बीज उगने से पहले ही दग्ध हो जाते हैं और उनमे से वृक्ष बनने की परम्परा का अन्त आ जाता है। एक बार जो बीज दग्ध हो गया, वह पुन कभी उग नही सकता। उसीप्रकार जगत में सामान्यरूप से विकार और कर्म की परम्परा अनन्त है, उसका जगत में से कभी अभाव होनेवाला नही, परन्तु ऐसा होने पर भी सभी

जीवों में विकार की परम्परा चलती ही रहे – ऐसा भी नियम नही है। बहुत से जीव पुरुषार्थ द्वारा विकार की परम्परा तोडकर सिद्ध-पद को प्राप्त करते है, उनके विकार की परम्परा का अन्त आ जाता है। जिसने एकबार विकार के बीज को दग्ध कर दिया, उसको पुन: कभी विकार होता नही – इसप्रकार विकार की शृंखला टूट भी सकती है।

प्रश्न :– विकार की परम्परा तो अनादि की है, तो फिर उसका अन्त कैसे आवे ?

उत्तर :– अनादिकालीन परम्परा का अन्त आवे ही नही – ऐसा तो नही है। जैसे वृक्ष व बीज की परम्परा अनादि की होने पर भी किसी एक बीज के दग्ध हो जाने पर उसकी परम्परा का अन्त आ जाता है, तदनुसार विकार की परम्परा अनादि की होने पर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से धर्मीजीव के द्वारा उसका अन्त आ जाता है। जिसप्रकार मोक्षमार्ग अनादि से न होने पर भी उसका नवीन प्रारम्भ हो सकता है; उसीप्रकार विकार अनादि का होने पर भी उसका अन्त हो सकता है।

प्रश्न :– आगम और अध्यात्म दोनो मे अनन्तता कही, वह किसप्रकार ?

उत्तर :– विकार के अनन्तप्रकार हैं और उनके निमित्तरूप कर्म में अनन्तानन्त परमाणु हैं – इसप्रकार आगमपद्धति में अनन्तता है; और जीव के अनन्तगुणो की अनन्त निर्मलपर्यायें है, प्रत्येक निर्मल पर्याय अनन्त गंभीर भावों से और अनन्त सामर्थ्य से भरी हुई है, ज्ञान की एक छोटी-सी पर्याय मे भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद रूप अशों की सामर्थ्य है। इसप्रकार अध्यात्मपद्धति मे भी अनन्तता जानना। एक-एक आत्मा मे अनन्तगुण है, प्रत्येक गुण मे अनन्त निर्मलपर्यायें प्रगट होने की शक्ति पड़ी है, तथा प्रत्येक निर्मलपर्याय

अनन्त सामर्थ्य सहित है। तेरी एक आत्मा मे कितनी अनन्तशक्ति है, उसका लक्ष्य करे तो स्व-सन्मुखवृत्ति हो और अपूर्व अध्यात्मदशा प्रगट हो।

एक तरफ तो विकारधारा अनादि से है और दूसरी तरफ स्वभावसामर्थ्य की धारा भी अनादि से साथ ही साथ चली आ रही है, विकारधारा के समय भी स्वभावसामर्थ्य की धारा का विच्छेद नही हो गया है, अभाव नही हो गया है; परिणति जब स्वभाव सामर्थ्य की ओर झुकी, तब ही विकार की परम्परा का प्रवाह टूटा और अध्यात्म की परम्परा प्रारम्भ हुई; जो पूर्ण होकर सादि-अनन्तकाल तक रहेगी।

अत. हे भाई! अन्तर्मुख होकर अपने स्वभावसामर्थ्य का विचार कर, लक्ष कर, प्रतीति कर और अनुभव कर। लोगो को यह तो विश्वास आता है कि एक बीज से इतना विशाल किलोमीटरो मे फैल जानेवाला बड़वृक्ष हो गया, परन्तु चैतन्यशक्ति के एक बीज मे अनन्त केवलज्ञानरूपी बड़वृक्षो को फैलाने की अनन्त शक्ति है – ऐसा विश्वास नही आता।

यदि चैतन्यसामर्थ्य का विश्वास करे तो उसके आश्रय से रत्नत्रयधर्म की अनेक शाखा-उपशाखा प्रगट होकर मोक्षफलसहित विशाल वृक्ष उगे। भविष्य मे होनेवाले मोक्षवृक्ष की शक्ति वर्त्तमान मे ही तेरे चैतन्यबीज मे विद्यमान पडी है। सूक्ष्मदृष्टि से उसको विचार लेने पर अनुभव होकर तेरा अपूर्व कल्याण होगा।

(५)

आगम-अध्यात्म के ज्ञाता

अब आगम और अध्यात्म मे जो अनन्तता कही, उस सम्बन्ध मे विशेष स्पष्टता करते है और उनके स्वरूप का ज्ञाता कौन है — यह बतलाते है।

उसमें विशेष इतना कि अध्यात्म का स्वरूप अनन्त है और आगम का स्वरूप अनन्तानन्तरूप है; यथार्थप्रमाण से अध्यात्म एक द्रव्याश्रित और आगम अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्याश्रित है।

इन दोनों का स्वरूप सर्वथा प्रकार से तो केवलज्ञानगोचर है तथा अंशमात्र मतिश्रुतज्ञानग्राह्य है। अतः सर्वथा प्रकार से आगमी व अध्यात्मी (आगम-अध्यात्म के ज्ञाता) तो केवलज्ञानी हैं, अंशमात्रज्ञाता मतिश्रुतज्ञानी हैं और देशमात्र ज्ञाता अवधिज्ञानी-मनःपर्ययज्ञानी हैं।

ये तीनों (सम्पूर्णज्ञाता, अंशज्ञाता, देशज्ञाता) यथावस्थित ज्ञानप्रमाण न्यूनाधिकरूप जानना।

अध्यात्मपद्धति मे एक शुद्धात्मा का ही आश्रय है, तथापि उसमे अनन्तगुणों के अनन्त निर्मल परिणाम है और एक-एक निर्मल परिणाम में अनन्त सामर्थ्य है; अर्थात् अध्यात्मपद्धति में अनन्तता है। आगमपद्धति मे विकारपरिणाम के अनन्तप्रकार और उसमे निमित्तरूप कर्म के भी अनन्तप्रकार, उन कर्मों में अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणु; — इसप्रकार अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्यों के आश्रित होने से आगमपद्धति अनन्तानन्तरूप है।

इन दोनों के अनन्त प्रकारों का पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानी को है। जीवों के शुद्ध-अशुद्ध परिणामों मे अनन्त सूक्ष्मप्रकार है; उनका परिपूर्णस्वरूप तो सर्वज्ञ ही जानते है और सर्वज्ञ अनुसार सामान्यपने इन दोनों पद्धतियो का ज्ञान मति-श्रुतज्ञानी को भी आशिक होता है। अनन्त प्रकारों को छद्मस्थ पूरा नही जान सकता, परन्तु कौन-सा भाव स्वाभावाश्रित है, कौन-सा भाव पराश्रित है, कौन-सा भाव मोक्षमार्ग का कारण और कौन-सा भाव बन्ध का कारण है, किस भाव से धर्म है और किससे धर्म नही—ऐसा प्रयोजनरूप ज्ञान सम्यग्दृष्टि को मति-श्रुतज्ञान से भी होता है। वह ज्ञान भले ही थोड़ा हो, किन्तु है तो वह केवलज्ञानानुसार ही।

'यह वचनिका केवलीवचन अनुसार है'—ऐसा पण्डित बनारसीदासजी स्वय ही इस वचनिका के अन्त मे कहेगे।

अनन्त प्रकार के शुद्ध-अशुद्ध भावो मे से अपने हिताहित का पृथक्करण कर ले—ऐसी शक्ति मति-श्रुतज्ञान मे है; और अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान से भी इन भावों का एकदेश प्रत्यक्षज्ञान होता है। इसप्रकार आगम व अध्यात्म दोनों पद्धतियों के अनन्त प्रकारो को केवलज्ञानी सम्पूर्णरूप से जानते है, मति-श्रुतज्ञानी उसके अंश को जानते हैं और अवधि-मन.पर्ययज्ञानी उसके एक भाग को जानते है।

यह सभी ज्ञान यथावस्थित जाननेवाले है; इन यथावस्थित ज्ञानो में भी न्यूनाधिकता जानना। केवलज्ञान तो सभी का समान कक्षा का ही होता है, उसमें तो न्यूनाधिकता नही होती; परन्तु मति-श्रुत ज्ञान मे अथवा अवधि-मन·पर्ययज्ञान मे हीनाधिकता के अनेक प्रकार पड़ते हैं। इन ज्ञानों से अपनी हीन-अधिक शक्ति के प्रमाण में आगम-अध्यात्म के प्रकारों को सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता जानता है और इन ज्ञानो के बल से वह शुद्ध-अध्यात्मपद्धति को साधता है।

शुद्धचेतनारूप अध्यात्मपद्धति मोक्षमार्गरूप है, वह अपूर्व है; पूर्व में कभी नहीं हुआ – ऐसा यह भाव है। जगत मे तो इन भावो से युक्त जीव अनादि से होते आये हैं, परन्तु इस जीव के लिए यह भाव नया है, अपूर्व है। आगमपद्धतिरूप शुभाशुभभाव तो अनादि से जीव करता आया है, उसमें कोई नवीनता – अपूर्वता नही है और वह धर्म का कारण भी नही है। शुद्धचेतनापद्धति ही धर्म का कारण है और वह आत्मस्वभाव के आश्रित है, इसप्रकार मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग – दोनों की जाति स्पष्ट भिन्न बतलाई है। मोक्षमार्ग तो आत्मा के आश्रित है, जबकि बन्धमार्ग पुद्गल के आश्रित है।

प्रश्न :– बन्धभाव करता तो आत्मा है, फिर भी उसे पुद्गलाश्रित क्यों कहा ?

उत्तर :– यदि जीव निजस्वभाव का आश्रय लेकर परिणमन करे तो बन्धभाव की उत्पत्ति ही न हो। जब वह स्वभाव से बाह्य पर का आश्रय करता है, तभी बन्धभाव की उत्पत्ति होती है, और उस बन्धभाव में निमित्तरूप अनन्त परमाणुरूप कर्म होते हैं; इसलिये उसे पुद्गल-आश्रित कहकर आत्मा के स्वभाव से उसकी भिन्नता समझाई है, किन्तु कोई कर्म उस बन्धभाव को कराते है – ऐसा आशय उस कथन का नही है। कर्त्ता होकर उस भावरूप परिणमन तो जीव स्वयं ही करता है; परन्तु वह परिणमन स्वभाव की तरफ का नहीं है, पुद्गल की तरफ का है – इसलिये उसे पुद्गल-आश्रित कहा है। उसके आश्रय से धर्म अथवा मोक्षमार्ग नहीं है।

शुभ को जो मोक्ष का साधन मानता है, उसके मत मे तो पुद्गलाश्रित ही मोक्षमार्ग हो गया, क्योंकि शुभभाव पुद्गलाश्रित है, वह कहीं आत्मस्वभावाश्रित नहीं है। मोक्षमार्ग तो आत्मस्वभावाश्रित है और पुद्गलाश्रित होनेवाले भाव तो मोक्षमार्ग का कारण कदापि नही हो सकते। धर्म अध्यात्मपद्धतिरूप है। अध्यात्मपद्धति

अर्थात् शुद्ध परिणाम और वह आत्मस्वभाव के आश्रित है, पर का आश्रय उसमे किंचित् भी नही है।

वाह ! कितनी स्पष्ट बात है ! मोक्षमार्ग कितना स्पष्ट और स्वाधीन !!! अरे, ऐसे स्पष्ट मार्ग को भूलकर यह जीव बाहर मे कही न कही अटक-भटक रहा है। सन्तों ने उस मार्ग को स्पष्ट उद्घोषित करके जगत का महान कल्याण किया है।

अध्यात्मपद्धति अर्थात् शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग मे तो मात्र स्वद्रव्य का ही आश्रय है और बन्धभावरूप आगमपद्धति मे अनन्तानन्त परमाणुओ का स्कन्ध निमित्त है। एक निर्बन्ध परमाणु (मात्र परमाणु) जीव को बन्ध मे निमित्त नही होता, अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणु इकट्ठे होकर ही बन्ध मे निमित्तरूप हो सकते है। कम से कम स्थिति-अनुभागवाला कर्म हो, उसमे भी अनन्तानन्त पुद्गल ही होते हैं। ऐसे अनन्तानन्त पुद्गल और उनके आश्रय से होनेवाले अनन्त प्रकार के विकारो की परम्परा को आगमरूप कर्मपद्धति कहते है।

अभव्य अथवा मिथ्यादृष्टि को सदैव ऐसी आगमरूप कर्मपद्धति ही है; अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति उसको कभी प्रगट नही होती और आगमपद्धति कभी नही छूटती। वह कभी भी स्वभाव का आश्रय करता नही और कर्माश्रय छोडता नही। धर्मी को स्वभावाश्रय से अध्यात्मपद्धति होने पर आगमपद्धति (विकार की परम्परा) छूटने लगती है। अज्ञानी तो ऐसे शुद्धभाव को पहचानता भी नही। उसे तो विकार की पद्धति और रीति का भी सच्चा ज्ञान नही है। वह तो पर से विकार की उत्पत्ति मानता है, अथवा शुभरागरूप विकार की पद्धति को ही धर्म की पद्धति मान बैठता है। इसप्रकार उसे एक भी पद्धति का ज्ञान नही है — यह बात आगे कहते है।

अज्ञानी जीव अनुभवहीन होने से मोक्षमार्ग नही साध सकता, अतः उसके सम्बन्ध मे कथन करते है :—

मिथ्यादृष्टि जीव न आगमी है, न अध्यात्मी। क्यों? कारण कि वह कथनमात्र तो ग्रन्थपाठ के बल से आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेशमात्र कहता है, परन्तु आगम-अध्यात्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता नहीं; इसलिये मूढ़जीव आगमी भी नहीं और अध्यात्मी भी नहीं, निर्वेदकत्वात्। (अर्थात् उसे उस भाव का वेदन नहीं)।

अनुभवशून्य ज्ञान को वास्तव में ज्ञान कहते ही नही। शास्त्र-ज्ञान भले ही किया, विकार और स्वभाव भिन्न-भिन्न है – ऐसा शास्त्र से भले ही जाना; परन्तु जब तक स्वयं अन्तरंग अनुभव में उन दोनों की भिन्नता नही जानी, तब तक उसे सम्यग्ज्ञान नही कहते। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि को आगम अथवा अध्यात्मपद्धति में से किसी एक का भी ज्ञान नही होता, अतः वह न तो आगमी ही है और न अध्यात्मी ही।

प्रश्न :– अज्ञानी आगम-अध्यात्म का ज्ञाता क्यों नही है?

उत्तर :– वह निर्वेदक है, इसलिये आगम-अध्यात्म का ज्ञाता नही है। अर्थात् शास्त्रादि के द्वारा जैसा जानपना कहा है, वैसा वेदन वह नहीं करता। 'आत्मा का शुद्ध-स्वभाव है और बन्धभाव उससे भिन्न हैं' – ऐसा शास्त्र से जानता है, परन्तु स्वयं अपने ज्ञान में वैसा बन्धरहित शुद्ध स्वानुभव का वेदन नही करता, इसलिये वह निर्वेदक है। अनुभवरहित ज्ञान सम्यक् नही; अनुभवशून्य अकेला जानपना किस काम का? यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से तो उसका जानपना भी भूल-युक्त है, क्योंकि स्व-संवेदनरूप भेदज्ञान के बिना सच्चा ज्ञान होता ही नही।

ज्ञानी कदाचित् भाषा न बोल पाता हो, शास्त्रपाठ न कर पाता हो, तथापि अन्तरंग में अनुभव द्वारा सच्चे भावभासन से उसके सम्यग्ज्ञान का परिणमन हो रहा है और वह मोक्षमार्ग का साधन

कर रहा है। अज्ञानी को कदाचित् क्षयोपशम की विशेषता से शास्त्र-ज्ञान हो, परन्तु अनुभव मे जीवादितत्त्वों का सच्चा भावभासन नही होने से वह मोक्षमार्ग को साधना नही जानता। वह तो बन्धपद्धति को ही भ्रम से मोक्ष का साधन मानकर साध रहा है। अतः वह न आगमी है, न अध्यात्मी।

प्रश्न :— अज्ञानी को अध्यात्मपद्धति नही है, इसलिये उसे 'अध्यात्मी भले ही मत कहो, परन्तु आगमपद्धति अर्थात् विकार और कर्म की परम्परा तो उस अज्ञानी को बहुत है, फिर भी उसे 'आगमी' कहने से इन्कार क्यों है ?

उत्तर :— मिथ्यादृष्टि को विकार तो है अर्थात् आगमपद्धति तो है, परन्तु आगमपद्धति का ज्ञान उसको नही है; विकार को विकार-रूप से वह जानता नही है, इसलिए उसको 'आगमी' नही कहा।

यहाँ 'आगमी' अर्थात् 'आगमपद्धतिवाला' ऐसा अर्थ नही है, अपितु 'आगमी' अर्थात् 'आगमपद्धति का ज्ञाता' ऐसा अर्थ होता है। अज्ञानी आगमपद्धति को भी पहचानता नही है। विकार स्वयं करता है और कर्म उसमे निमित्त है; यद्यपि वह कर्म विकार नही कराता है, तथापि अज्ञानी अपने दोष का उत्पादक परद्रव्य को मानता है। अपने गुण-दोष का उत्पादक परद्रव्य को मानना तो तत्त्व की मोटी भूल है, अनीति है। प्रत्येक वस्तु और उसके परिणाम पर से निरपेक्ष और स्व से सापेक्ष है — ऐसा अनेकान्त है।

जब ऐसा वस्तुस्वरूप समझे, तब अपने गुण-दोष का उत्पादन परकृत न माने अर्थात् एकताबुद्धि से पर में राग-द्वेष न हो; वही जीव भेदज्ञान के द्वारा पर से पृथक् होकर अर्थात् निरपेक्ष होकर स्व-तरफ झुक सकता है और स्व-सापेक्षपने अर्थात् स्वाश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट कर सकता है।

पुद्गल के परिणाम भी स्व से सापेक्ष और पर से निरपेक्ष हैं। जगत के सम्पूर्ण पदार्थों और उनकी पर्यायों को परमार्थ से स्व से सापेक्षपना और पर से निरपेक्षपना है, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। पर्याय की भी अपनी उसप्रकार की शक्ति है, वह भी सचमुच पर की अपेक्षा नही रखती। ऐसे वस्तुस्वभाव को अज्ञानी नही जानता, इसलिये वह आगमी भी नही और अध्यात्मी भी नहीं; अतः मोक्षमार्ग को नही साध सकता।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आगम-अध्यात्म का ज्ञाता है और मोक्षमार्ग का साधक है, तथा अज्ञानी जीव आगम-अध्यात्म के स्वरूप को जानता नहीं, अतः मोक्षमार्ग को नही साध सकता।

ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर है।

उपादान-निमित्त संवाद

निमित्त – कहै निमित्त जग मे बड्यो, मोतें बडौ न कोय।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसादतें होय ॥ ३२ ॥

उपादान – उपादान कहै तू कहा, चहुँगति मे ले जाय।
तो प्रसादते जीव सब, दुखी होहि रे भाय ॥ ३३ ॥

निमित्त – अविनाशी घट-घट बसे, सुख क्यो विलसत नाहिं।
शुभ निमित्त के योग बिन, परे-परे बिललाहिं ॥ ३६ ॥

उपादान – शुभ निमित्त इह जीव को, मिल्यो कई भवसार।
पै इक सम्यक्दर्श बिन, भटकत फिर्यो गवार ॥ ३७ ॥

– भैया भगवतीदास

६

ज्ञानी और अज्ञानी

अब मूढ़ तथा ज्ञानी जीव का विशेषपना और भी सुनो –

"ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधना जानता है, मूढ़ मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानता।

क्यों ? – इसलिए सुनो, मूढ़ जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहता है, अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है; इसलिए आगम-अंग को एकान्तपने साधकर मोक्षमार्ग दिखलाता है, अध्यात्म-अंग के व्यवहार को नहीं जानता – यह मूढ़ दृष्टि का स्वभाव है; उसे इसीप्रकार सूझता है।

क्यों ? इसलिये कि आगम-अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसका स्वरूप साधना सुगम है। उस बाह्यक्रिया को करता हुआ मूढ़जीव अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है; किन्तु अन्तर्गभित जो अध्यात्मरूप क्रिया, वह अन्तर्दृष्टिग्राह्य है, उस क्रिया को मूढ़जीव नहीं जानता। अन्तर्दृष्टि के अभाव मे अन्तर क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ है।"

देखो ! इसमे मोक्षमार्ग की कितनी स्पष्टता आई है ? मोक्षमार्ग तो अन्तर-अनुभव की अध्यात्मक्रिया मे है, उस क्रिया को अन्तर्दृष्टि मे धर्मी ही जानता है। मोक्षमार्ग की क्रिया बाह्यदृष्टि से ज्ञात

नहीं हो सकती। अज्ञानी तो शुभराग और बाहर की क्रिया को ही देखता है, उसी को वह व्यवहार कहता है तथा मोक्षमार्ग भी उसी को मानता है; अन्तर के सच्चे मोक्षमार्ग को साधना वह नहीं जानता। बाहर की क्रिया और शुभराग मे तो मोक्षमार्ग है नही।

यहाँ तो पं० बनारसीदासजी स्पष्ट कहते हैं कि बाह्यक्रिया करता हुआ मूढजीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है। वह अकेली अशुद्धपरिणतिरूप आगमपद्धति को व्यवहार कहता है और अध्यात्मपद्धति के व्यवहार को अर्थात् शुद्धपरिणतिरूप व्यवहार को पहचानता ही नहीं; किन्तु भाई ! अशुद्धपरिणति कहीं मोक्षमार्ग का व्यवहार नही है, वह तो अशुद्ध व्यवहार है। मोक्षमार्ग में तो मिश्ररूप व्यवहार कहा है अर्थात् किंचित् शुद्धता और किंचित् अशुद्धता – ऐसी मिश्रपरिणति मोक्षमार्ग मे होती है, यही मोक्षमार्ग का व्यवहार है। ऐसे व्यवहार को अज्ञानी जानता नही। वह तो अध्यात्मपद्धति (शुद्धपरिणति) को निश्चय और आगमपद्धति (अशुद्धपरिणति) को व्यवहार मानता है तथा एकान्त आगमपद्धति को अर्थात् शुभराग और बाह्यक्रिया को मोक्षमार्ग मानता है।

भाई ! निर्मल परिणति भी व्यवहार है। जितनी शुद्ध-परिणति है उतना शुद्धव्यवहार है, वह अध्यात्मपद्धति है; उसके बिना मोक्षमार्ग होता नहीं। शुभराग की स्थूल क्रिया अज्ञानी को बाहर में दिखाई देती है, अत: उसकी बात शीघ्र समझ जाता है अर्थात् उसे ही मोक्षमार्ग मान लेता है। बाहर की रागक्रिया मे अटके हुए जीवों को अन्तर की शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग सूझे ही कहाँ से ? अन्तर्मुख अध्यात्मपद्धति और वहिर्मुख आगमपद्धति अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता – इन दोनों की भिन्नता को जो पहचानता नही तथा मोक्षमार्ग व संसारमार्ग – इन दोनों के भेद को जो जानता नहीं, वह भला मोक्षमार्ग को कैसे साधेगा ? अध्यात्मपद्धति और आगमपद्धति –

इन दोनो की भिन्नता का ज्ञाता ही मोक्षमार्ग का साधन कर सकता है।

अभेदद्रव्य, वह निश्चय और उसकी शुद्धपर्याय, वह व्यवहार है। शुद्धपरिणति, वही शुद्ध-आत्मव्यवहार है; ऐसे शुद्ध निश्चय-व्यवहार को अज्ञानी जानता नही और देहादि की क्रिया अथवा शुभराग को ही वह अपना व्यवहार मानता है तथा उसे ही मोक्षमार्ग समझता है; ऐसे व्यवहार मे (राग व देह को क्रिया मे) मग्नजीव मोक्षमार्ग को कैसे साध सकेगा ?

अज्ञानीजीव शुद्धपरिणतिरूप व्यवहार को तो जानता नही और रागादि अशुद्धव्यवहार को मोक्ष का कारण मानता है – यह तो मूढता है। मूढजीव ही ऐसे रागादि अशुद्धभाव से अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है – ऐसा लगभग ४०० वर्ष पहले पण्डित वनारसीदासजी स्पष्ट लिख गए है और परम्परा से तो यही बात अनादि से ज्ञानी सन्त समझाते आये हैं।

भाई ! तुझे राग का तो अनादि से परिचय है, इसलिये राग की बात तुझे सुगम लगती है। जब कोई राग को मोक्षमार्ग कह दे तो वह बात तेरे हृदय मे झट बैठ जाती है, किन्तु वह राग मोक्षमार्ग नही है। मोक्षमार्ग तो अध्यात्मपद्धतिरूप है, आत्मा के आश्रय से होने वाली शुद्धचेतनापरिणति ही मोक्षमार्ग है; उसके द्वारा ही मोक्ष सुगमता से मिल सकता है, अत. वही सरल मार्ग है – सच्चा मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग से मोक्ष प्राप्ति दुर्गम है, अशक्य है। शुद्धरत्नत्रयरूप जो 'निश्चय मोक्षमार्ग' है, उसी को यहाँ आत्मा का 'शुद्धव्यवहार' कहा है। प्रवचनसार में भी 'शुद्धचेतनाविलासरूप आत्मव्यवहार' – ऐसा कहा है, वह निर्मलपर्याय की ही बात है। यहाँ उसकी पहचान 'अध्यात्मपद्धति' कहकर कराई है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अनेक शैलियो मे भी मोक्षमार्ग की मूलधारा समानरूप से

प्रवाहित होती चली आ रही है 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:'– ऐसा कहा, उसमें भी यही आशय है। सभी सन्तो के बताये हुये मोक्षमार्ग का स्वरूप एक जैसा ही है।

कहा भी है – 'एक होय त्रयकाल मे, परमारथ का पथ।'

प्रश्न :– यदि शुद्धपर्याय मोक्षमार्ग है, जैसा कि ऊपर कथन किया तो फिर पर्याय को अभूतार्थ कहकर छोड़ने के लिए क्यों कहते हो ?

उत्तर :– अरे भाई ! निर्मलपर्याय को छोड़ देने के लिए नही कहा, परन्तु उस पर्याय का भेद करके आश्रय करने जाओगे तो विकल्प उत्पन्न होगा; अत: उस विकल्प को छुड़ाने के लिए पर्यायभेद का आश्रय छुड़ाया है। पर्यायभेद का आश्रय छुड़ाने के लिए और अभेद स्वभाव का आश्रय कराने के लिए पर्यायभेद को अभूतार्थ कहा है। जब भेद का आश्रय छोड़कर अन्तर्मुख अभेदस्वभाव का आश्रय करेगा, तब पर्याय अन्तरस्वभाव में अभेदपने लीन होगी और निर्विकल्प अनुभव होगा। ऐसी स्थिति में पर्याय कही छूट नही जावेगी। हाँ, पर्याय का आश्रय अवश्य छूट जावेगा, पर्यायभेद का विकल्प छूट जावेगा। पर्याय को अभूतार्थ कहने पर कोई निर्मलपर्याय को ही सर्वथा छोड़ देना प्रयोजनभूत समझ ले तो यह उचित नहीं है। समयसार मे भी 'आत्मा अप्रमत्त या प्रमत्त नहीं' – ऐसा कहकर पर्याय के भेद का आश्रय छुडाकर एकरूप ज्ञायकस्वभाव का अनुभव कराया है; उस स्वभाव के अनुभव मे पर्याय निर्मल होती जाती है, उसका कहीं निषेध नही है।

सत्‌के सभी पक्षों को ज्यों का त्यों समझना चाहिए।

देखो ! यह मूल प्रयोजन की सरस बात है। मोक्षमार्ग कैसे साधा जाय, उसकी बात है। मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में आजकल अनेक विवाद चल रहे हैं। कोई कहता है कि शुभोपयोग ही मोक्षमार्ग है,

और कोई कहता है कि छठवे गुणस्थान तक शुद्धभाव अथवा निश्चय सम्यक्त्वादि होते ही नही। अरे भाई ! शुभभाव तो पुण्यबन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण कैसे होगा ? और निश्चय-सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव तो चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है, उसके बिना मोक्षमार्ग अथवा धर्म होगा ही कहाँ से ? किन्तु बहिरात्मा जीव अन्तर के शुद्ध परिणाम को पहचान सकता नही, वह तो मात्र बाह्य की स्थूल क्रिया तथा स्थूल राग को ही देखनेवाला है; राग से पार चैतन्यस्वभाव की बात का उत्साह भी उसको नही आता, बल्कि उलटा उसके प्रति अनादर – अरुचि ही आती है।

मिथ्यादृष्टि जीव को ऐसे विपरीतभाव के कारण ही अनादिकाल से ससार-परम्परा चली आ रही है, उसका अभाव होकर मोक्षप्राप्ति कैसे हो – उसकी यहाँ बात है।

अन्तर के ऐसे मार्ग का आदर करके बार-बार उसका घोलन करना और उसके प्रति अपूर्व उत्साह जागृत करना ही योग्य है।

अन्तरस्वभाव के अनुभव का कोई अपूर्व ही स्वाद है, वह अज्ञानी के लक्ष मे नही आता; राग से भिन्न कोई तत्त्व उसे दिखाई ही नही देता। जबकि अनेक सन्त और विद्वान् धर्मात्मा पूर्व में कह गए है और वर्त्तमान मे भी कह रहे है कि 'शुभराग मोक्षमार्ग है ही नही, तथा निमित्तादि परद्रव्य अकिंचित्कर हैं' – यह सुनकर अपनी विद्वत्ता के अनुचित अभिमान मे कोई कहने लगे कि यह तो भावुकता के प्रवाह में उन्होने खीचकर ऐसा कथन किया है – वास्तविक वस्तुस्वरूप ऐसा नही है। तो सुनो भाई ! हम भी ऐसा कह सकते हैं कि सन्तो और विद्वान् ज्ञानियो ने जो कहा है, वह तो परम सत्य के प्रवाह मे रहकर किया है; तुम ही स्वय असत् और द्वेष के प्रवाह मे खिचकर उनके ऊपर आक्षेप कर रहे हो, तुम्हारा यह बड़ा दुस्साहस है।

प्रश्न :- शास्त्र में अज्ञानी को 'मूढ' कहा है, क्या यह द्वेष नहीं है ?

उत्तर :- नहीं भाई, इसमे द्वेष नही है; अपितु अज्ञानभाव कितना अहितकर है, यह समझाते हुए उसे छुड़ाने के लिए करुणाभाव हैं। किसी के घर में काला सर्प पड़ा हो और उसे उसकी खबर न हो; ऐसी स्थिति में दूसरा कोई सज्जन उसको उसके घर में रहने वाले सर्प की भयंकरता बतावे, तो उसमें उस बतानेवाले का हेतु क्या है ? उसका हेतु तो यह है कि वह मनुष्य उस काले नाग की भयंकरता जानकर, उसे अपने घर से बाहर निकालने का प्रयत्न करे। उसीप्रकार आत्मस्वभाव से विपरीत-अभिप्रायरूप भयंकर काला नाग अज्ञानी के घर में बैठ गया है और उसे उसका भान नही है, उलटा उसको हितकारी मान रखा है। सन्तज्ञानी उससे कहते है कि अरे मूढ़ ! ऐसे विषधर सर्प जैसे अहितकारी मिथ्याभाव का तू सेवन कर रहा है ! यह भाव छोड़ ! ! – ऐसे मिथ्याभाव का सेवन तो मूढता है।

अब विचार करो कि यहाँ मूढ़ कहने में सामनेवाले के ऊपर द्वेष है या करुणा ? अत्यन्त अहितकारी मिथ्याभाव के सेवन से उसे बचाने के लिए करुणापूर्वक यह उपदेश है। सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय सुख को अनेक प्रकार से समझाने पर भी जो उसे नहीं मानते, ऐसे जीवों को उनकी गम्भीर भूल की विकरालता समझाने के लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे वीतरागी सन्त प्रवचनसार में कहते हैं कि –

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ।। ६२ ।।

जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये है, उनका सुख सर्व सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है – ऐसे वचनों को सुनकर भी जो श्रद्धा नही करते, वे अभव्य हैं और जो श्रद्धा करते है – स्वीकार करते है, वे भव्य हैं।

यहाँ किसी व्यक्तिविशेष की बात नही है, यह तो सत्य की पुकार है। सर्वज्ञ का अतीन्द्रिय सुख बतलाकर आत्मा के सुखस्वभाव की ऐसी सरस बात हम सुनाते है, यह सुनकर जिसे अन्तरग उमग से उत्साह न आवे, वह जीव धर्म प्राप्त करने के लिए अपात्र है। मुमुक्षु को तो अतीन्द्रिय सुख की बात कर्णगोचर होते ही उसकी आत्मा से असख्य प्रदेश सुखोत्कठा से झनझनाने लगते है। अहा ! सन्तों ने समझाने में कोई कसर नही रखी। सच्ची जिज्ञासा से पात्र होकर समझना चाहे तो मार्ग एकदम स्पष्ट, सीधा और सरल है। जिसे समझना न हो, झगड़ा करना हो, उससे क्या कहे ? उसका आत्मा इसीप्रकार परिणमन कर रहा है, उसमे दूसरा कोई क्या करे ? यही जीव जब अपने सत्पुरुषार्थ से सत् को समझकर सत्परिणमन करेगा तो त्रिलोकीनाथ हो जायेगा।

मोक्षमार्ग तो अन्दर का सूक्ष्म अध्यात्मभाव है, वह बाहर से नही दिखाई पडता। जैसे – दो जीव हो, दोनो बाह्य मे दिगम्बर जैन मुनि हो, वस्त्र का ताना भी न हो, मात्र मोर-पीछी व कमण्डलु हो, शुभराग से पचमहाव्रत दोनो पालते हो, निर्दोष आहार-विहार करते हो, शास्त्रानुसार उपदेश देते हो – यहाँ दोनो मुनियो की इतनी क्रियाये तो बाहर से अज्ञानी को भी दिखाई पड़ती है; परन्तु यह सम्भव है कि अन्तर मे उनमे से एक मिथ्यादृष्टि हो और दूसरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित विराजता हो। वहाँ पहला मुनि तो आगमपद्धति मे वर्त्त रहा है, वह मोक्षमार्ग को नही साधता और दूसरा मुनि अध्यात्मपद्धति मे वर्त्तते हुए साक्षात् मोक्षमार्ग को साध रहा है। दोनो की बाह्य क्रियाये लगभग एक-सी, किन्तु अन्तर के सूक्ष्म परिणाम मे कितना भारी अन्तर है ?

देखो ! बाहर की क्रिया में अन्तर्गर्भितपने शुद्धभावरूप अध्यात्म क्रिया एक के नही वर्त्तती है, जबकि दूसरे के वर्त्त रही है। अन्तर

की यही अध्यात्मक्रिया वास्तविक मोक्षमार्ग है, उसे अज्ञानी कैसे पहचाने? वह तो दोनों को समान मानकर, वाहर की क्रिया और पंचमहाव्रत के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मानेगा; किन्तु भाई! किंचित् अन्तर्दृष्टि से तो देख! मोक्षमार्ग कही बाह्यक्रिया में अथवा राग मे नही है, वह तो अन्तर के शुद्धभावरूप रत्नत्रय मे है – इसको पहचाने तभी तुझे मुनि की सच्ची पहचान हो और तभी मुनिवरों के प्रति सच्ची भक्ति जागृत हो तथा मोक्षमार्ग को साधने की सच्ची रीति भी तभी तेरी समझ मे आवे। ऐसे ज्ञान बिना मोक्षमार्ग साधा नही जा सकता। इसतरह अज्ञानी मोक्षमार्ग क्यों नही साध सकता – यह यहाँ अत्यन्त स्पष्टतया बतलाया गया है।

सोईं समकिती भवसागर तरतु है

जाके घट प्रगट विवेक गणधर कौ सौ,
हिरदै हरखि महामोह कौ हरतु है।
साचौ सुख मानै निज महिमा अडोल जानै,
आपु ही में आपनौ सुभाउ ले धरतु है॥
जैसै जल-कर्दम[1] कतकफल[2] भिन्न करै,
तैसै जीव-अजीव विलछनु[3] करतु है।
आतम सकति साधै ग्यान कौ उदौ आराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु है॥८॥

– पं० बनारसीदासजी, नाटकसमयसार, मंगलाचरण

[1] कीचड़ [2] निर्मली [3] पृथक्करण

७

सम्यग्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति की साधना

अब सम्यग्दृष्टि ज्ञाता किसप्रकार मोक्षमार्ग साधता है, वह कहते हैं :–

"सम्यग्दृष्टि कौन है सो सुनो :– संशय, विमोह, विभ्रम – यह तीन भाव जिसमें नहीं, सो सम्यग्दृष्टि। संशय, विमोह, विभ्रम क्या है? उसका स्वरूप दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं। सो सुनो :– जैसे चार पुरुष किसी स्थान मे खड़े थे। उन चारों के पास आकर किसी और पुरुष ने एक सीप का टुकड़ा दिखाया और प्रत्येक से प्रश्न किया कि यह क्या है? – सीप है या चाँदी है?

प्रथम ही एक संशयवान पुरुष बोला – 'कुछ सुध (समझ) नहीं पड़ती कि यह सीप है या चाँदी है? मेरी दृष्टि में इसका निर्धारण नहीं होता।' दूसरा विमोहवान पुरुष बोला – 'मुझे यह कुछ समझ नहीं है कि तुम सीप किससे कहते हो और चाँदी किससे कहते हो? मेरी दृष्टि में कुछ नहीं आता, इसलिए हम नहीं जानते कि तुम क्या कहते हो?' अथवा चुप हो रहता है, बोलता नही गहलरूप से। तीसरा विभ्रमवान पुरुष बोला कि – 'यह तो प्रत्यक्षप्रमाण चाँदी है, इसे सीप कौन कहेगा? मेरी दृष्टि में तो चाँदी सूझती है, इसलिये सर्वथा प्रकार यह चाँदी है' – इसप्रकार तीनों पुरुषों ने तो उस सीप का स्वरूप जाना नहीं, इसलिए तीनो ही मिथ्यावादी है।

अब चौथा पुरुष बोला – यह तो प्रत्यक्षप्रमाण सीप का टुकड़ा है, इसमें क्या धोखा ? सीप····सीप····सीप, इसको जो कोई पुरुष अन्य वस्तु कहे, वह प्रत्यक्षप्रमाण भ्रामक अथवा अन्ध । उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि को स्व-परस्वरूप में न संशय, न विमोह, न विभ्रम; यथार्थदृष्टि है । इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानता है ।"

जिसको आत्मस्वरूप में कोई सन्देह नही, जिसने निःशंकपने आत्मस्वरूप को जाना है – ऐसा सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग को साधता है। स्वरूप के निर्णय में ही जिसके भूल पडी है, वह मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता । यहाँ सीप और चाँदी के दृष्टान्त से यह बात समझाई है। देह ही आत्मा होगी अथवा देह से भिन्न आत्मा होगा ? आत्मा देह की क्रिया का कर्त्ता होगा या अकर्त्ता ? पुण्य-पाप से धर्म होता होगा या नही ? इसप्रकार जिसे शका है, किंचित् भी तत्त्वनिर्णय नहीं – ऐसा संशयदृष्टि वाला मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग को साध नहीं सकता । विकार और स्वभाव की भिन्नता का अथवा जड-चेतन की भिन्नता का सच्चा विचार ही उसे नही है, अतः सशयग्रस्त है।

पुनश्च दूसरा विमोहवान पुरुष भी – स्वभाव क्या, परभाव क्या, बंधमार्ग क्या, मोक्षमार्ग क्या ? – इसका सही निर्णय नहीं करता; कभी ऐसा लगे कि वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग होगा तथा व्यवहार के पक्ष की बात सुनने पर ऐसा लगने लगे कि शुभराग भी मोक्ष का सावन होगा – इसप्रकार अनिश्चयपना वर्त्तता रहे तो उसकी परिणति स्वभाव की तरफ कैसे ढलेगी ? निःसन्देह दृढनिर्णय बिना परिणति अन्दर में झुकेगी नहीं और मोक्षमार्ग सध सकेगा नहीं । जैसे चाँदी का टुकड़ा है या सीप का ? इसके सत्यनिर्णय बिना उसे छोड़ना या ग्रहण करना – यह निश्चय नही हो सकता । वैसे ही स्वभाव क्या और परभाव क्या, कौनसा भाव बन्धमार्ग और

कौनसा मोक्षमार्ग ? इसके यथार्थ निर्णय बिना, कौनसा भाव रखना और कौनसा छोड़ना, अथवा कौनसे भाव की तरफ झुकना और कौनसे भाव से विमुख होना – यह निश्चय नही हो सकता अर्थात् मोक्षमार्ग नही सध सकता। शुभराग छोडने योग्य है अथवा रखने योग्य है – ऐसा निर्णय भी जो न कर सके, उसकी परिणति राग से विमुख होकर स्वभाव-सन्मुख कैसे हो ? उसकी परिणति तो अस्थिर ही रहेगी अर्थात् चैतन्य मे स्थिर हुए बिना वह मोक्षमार्ग का साधन नही कर सकेगा।

तीसरा पुरुष जो विभ्रम-बुद्धि से सीप को चाँदी ही मानकर अगीकार कर रहा है, उसे भी सीप छोड़कर चाँदी ग्रहण करने का अवकाश नही है। उसीप्रकार मूढजीव भ्रमबुद्धि से शुभरागादि परभाव को ही दृढतापूर्वक मोक्षमार्ग मान रहा है, इसलिए उसको भी राग छोडकर वीतरागस्वभाव की तरफ ढलने का अवकाश नही है है अर्थात् वह भी मोक्ष को नही साध सकता। शुभराग मोक्ष का साधन है – ऐसा विपरीत निर्णय करनेवाला जीव राग से हटकर वीतराग स्वभाव मे कहाँ से आयेगा ? इसप्रकार संशय, विमोह व विभ्रमवाला जीव मोक्षमार्ग को नही साध सकता; यथार्थवस्तु के दृढनिर्णय वाला ही मोक्षमार्ग को साधता है।

चौथा पुरुष स्पष्ट जानता है कि यह तो निश्चितरूप से सीप ही है, चाँदी नही। वह सीप और चाँदी – दोनो के यथार्थस्वरूप को पहचानता है। हजार मनुष्य सीप को चाँदी कहे, तथापि अपने सम्यक् निर्णय मे उसे शका नही होती। उसीप्रकार धर्मी जीव अपने चिदानन्द स्वरूप मे नि.शक है, स्व-पर तथा स्वभाव-परभाव को बराबर भिन्न जानता है; अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धपरिणति ही मोक्षमार्ग है और आगमपद्धतिरूप विकारपरिणति मोक्षमार्ग नही है, वह तो बन्धमार्ग ही है – ऐसा वह निश्चित जानता है, उसमे वह अत्यन्त

नि:शंक और दृढ़ है। हजारों-लाखों मनुष्य विपरीत मानें या कहे तो भी अपने सम्यक्-निर्णय में उसे सन्देह न पड़े, निर्णय में किंचित् भी ढील न आवे, वही नि:शंकपने स्वभाव की तरफ ढलकर मोक्षमार्ग को साध लेता है।

शास्त्र में कही निमित्त से अथवा व्यवहार से शुभरागादि को धर्म का कारण कहा तो भी धर्मीजीव भ्रमित नही होता। वह नि:शंक समझता है कि यह तो मात्र उपचार कथन है, वास्तव में ऐसा है नही। राग तो धर्म है ही नहीं, राग तो निश्चितरूप से विभाव....विभाव और विभाव है; वह मेरा स्वभाव नही, वह मोक्ष का साधन भी नही; जो कोई उसे मोक्ष का साधन मानता है, वह निश्चित ही अज्ञानी है; ऐसे दृढ-निर्णय के बल से वह निजस्वभाव को साधता है, स्वभावाश्रित मोक्षमार्ग को साधता है। इसतरह सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानता है।

यह सम्यग्दृष्टि के विचार का वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि तो निजस्वरूप के सम्यक्-निर्णय के बल से अध्यात्मपद्धति से मोक्षमार्ग को साधना जानता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि तो भ्रम से आगम पद्धति को मोक्ष का साधन मानकर अकेली आगमपद्धति (अशुद्ध परिणति) में ही वर्त्तता है, इसलिए वह मोक्षमार्ग को नही साध सकता, क्योंकि मोक्षमार्ग आगमपद्धति के आश्रित नही है।

(८)

मोक्षमार्ग की सरस बात

"सम्यग्दृष्टि बाह्यभाव को बाह्यनिमित्तरूप मानता है, वह निमित्त नानारूप है, एकरूप नहीं है; इसलिए अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधता है। सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागने पर मोक्षमार्ग सच्चा है। मोक्षमार्ग को साधना सो व्यवहार और शुद्धद्रव्य अक्रियरूप सो निश्चय। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, मूढ़जीव न जानता है और न मानता है। मूढ़जीव बन्धपद्धति को साधकर मोक्षमार्ग कहता है, किन्तु ज्ञाता इस बात को नहीं मानता। क्यों? इसलिए कि बन्ध के साधने से बन्ध सधता है, मोक्ष नहीं सधता।"

देखो, यह मोक्षमार्ग की सरस बात! धर्मी जीव किसप्रकार से मोक्षमार्ग साधता है और अज्ञानी उसमे क्या भूल करता है—यहाँ यह बात बताई है। धर्मी जीव को सन्देहरहित स्वानुभवपूर्वक दृढ निर्णय है कि ज्ञानस्वरूप ही मै हूँ, मेरा मोक्षमार्ग मेरे ज्ञानस्वरूप के आश्रय से ही है। त्रिकाली शुद्धद्रव्य—वह मेरा निश्चय और उसके आश्रय से प्रकटी हुई शुद्धपर्याय—वह मेरा व्यवहार; इसके अतिरिक्त रागादि परभाव—वे मेरे से बाह्य है। देखो, यहाँ व्यवहार किसको कहा? शुद्धद्रव्य के आश्रय द्वारा निर्मलपर्याय से मोक्षमार्ग को साधना, वह धर्मी का व्यवहार है। अज्ञानी को ऐसा व्यवहार होता नही और ऐसे व्यवहार को वह जानता भी नही।

शुद्धद्रव्य, वह निश्चय और शुद्धपरिणति, वह व्यवहार—ऐसा कहकर निश्चय-व्यवहार दोनो को एक ही वस्तु का अंग बताया। यहाँ रागादि अन्य भावो को व्यवहार नही कहा, किन्तु 'निमित्त'

कहकर उनको भिन्न बताया । यह बहुत सरस बात है । यह व्यवहार स्वयं मे है और निमित्त पर मे है । निश्चय-व्यवहार – दोनों ही एक प्रकार के हैं, एक ज्ञान जाति के है और परभावरूप निमित्त तो अनेक प्रकार के है । जिसप्रकार बाह्यद्रव्य निमित्त है, उसके आधार से मोक्षमार्ग नहीं है; उसीप्रकार अन्दर का शुभराग भी बाह्यद्रव्य के समान निमित्त है, उसके आधार से भी मोक्षमार्ग नही है । मोक्षमार्ग मे तो जैसे अन्यद्रव्य बाह्य (भिन्न) है, वैसे ही शुभराग भी बाह्य है, भिन्न है । अन्तर्दृष्टि से धर्मी जीव ऐसे मोक्षमार्ग को साधता है । स्वभाव की अन्तर्दृष्टिपूर्वक ही मोक्षमार्ग साधा जाता है, इस अन्तर्दृष्टि के बिना मोक्षमार्ग साधा नही जा सकता ।

ऐसी अन्तर्दृष्टि बिना अज्ञानी शुभराग करे और इस व्यवहार रत्नत्रयादि के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान ले, तथापि वह कही मोक्षमार्ग नही है – वह तो मात्र भ्रम ही है । सम्यग्दर्शन हो और स्वानुभव की करिणका जागे, तब ही मोक्षमार्ग सच्चा; इसके बिना मोक्षमार्ग नही । अरे ! सम्यग्दर्शन और स्वानुभव बिना, अकेले शुभ राग को मोक्षमार्ग मानना – वह तो वीतराग जैनमार्ग की विराधना है । जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा मोक्षमार्ग नही कहा; उन्होने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है, जो स्वानुभवपूर्वक ही होता है । स्वरूपाचरण चारित्र भी चतुर्थ गुणस्थान मे स्वानुभव-पूर्वक ही प्रकट होता है । स्वानुभव बिना शुभराग करते-करते मोक्षमार्ग प्रकट हो जाये – ऐसा कभी बन नही सकता । यहाँ तो कहते है कि वह शुभराग बाह्यनिमित्तरूप है । जो जीव अन्तर्दृष्टि से मोक्षमार्ग को साधता है, उसी को वह शुभभाव बाह्यनिमित्त है । अज्ञानी को तो वह शुभभाव मोक्षमार्ग का निमित्त भी नहीं । उपादान में ही जो मोक्षमार्ग को नही साधता तो फिर मोक्षमार्ग का निमित्त भी उसको कैसा ? अध्यात्मपद्धति ही उसको नही है, वह तो मात्र बन्धपद्धति को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें रच-पच रहा है ।

मोक्षमार्ग मे गमन करते हुए बीच में शुभराग को निमित्तरूप कहा, वह शुभराग सभी मोक्षमार्गियों को एक ही प्रकार का होता है – ऐसा नही है; उसमें अनेक प्रकार होते है। स्वभाव के परिणाम तो एक सरीखे हों, परन्तु विकार के परिणाम एक सरीखे नही होते। द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल एक सरीखा है। अखण्ड-अक्रिय शुद्धद्रव्य – वह निश्चय और उसके आश्रय से मोक्षमार्ग साधना – वह व्यवहार। मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय-रत्नत्रय परिणति – वह धर्मी का व्यवहार है और जो व्यवहार-रत्नत्रय (शुभरागरूप) है – वह तो बाह्यनिमित्त रूप है। यहाँ मोक्षमार्गपर्याय को व्यवहार कहा, यह मोक्षमार्ग कही रागवाला नही है; व्यवहार-रत्नत्रय रागरूप है, वह बन्धपद्धति में है, और निश्चय-रत्नत्रय मोक्षमार्गपद्धति मे है। मोक्षमार्ग तथा निश्चय-व्यवहार का ऐसा स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, *मूढ – अज्ञानी को* उसकी खबर ही कहाँ है? यदि सुनने में भी आ जावे तो यह बात उसके अन्तर मे जमती नही, बैठती नही; वह तो बन्धपद्धति को (राग को) ही साधता हुआ, उसे ही मोक्षमार्ग मानता है।

भाई! राग तो बन्धभाव है, इससे मोक्ष कहाँ से सधेगा? अरे, बन्धभाव और मोक्षभाव के अन्तर का भी जिसे विवेक नही, उसे शुद्धात्मा का वीतरागी सवेदन कहाँ से होगा? और स्वानुभव की किरण प्रस्फुटित हुए बिना मोक्षमार्ग का प्रकाश कहाँ से प्रकट होगा? अज्ञानी को स्वानुभव की कणिका भी नही, तो फिर मोक्षमार्ग कैसा? स्वानुभव के विना जितने भी भाव करे वे सब भाव बन्धपद्धति मे हो समाविष्ट होते हैं, उनसे बन्धन ही सधता है, वे कोई भी भाव मोक्षमार्ग मे नही आते; इसलिए मोक्ष नही सधता।

जिसप्रकार राजमार्ग की सीधी सड़क के बीच में काँटे-कंकड नही होते; उसीप्रकार मोक्ष का यह सीधा व स्पष्ट राजमार्ग, उसके बीच में राग की रुचिरूपी काँटे-कंकड़ नही हो सकते। सन्तों ने

शुद्धपरिणतिरूप राजमार्ग से मोक्ष को साधा है और वही मार्ग जगत को दर्शाया है।

प्रश्न :– यह राजमार्ग है तो दूसरा कोई ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी तो होगा न ?

उत्तर :– ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी राजमार्ग से विरुद्ध नही होता। राजमार्ग पूर्व की तरफ जाता हो और ऊबड़-खाबड़ मार्ग पश्चिम की तरफ जाता हो – ऐसा तो नहीं बनता। भले मार्ग ऊबड़-खाबड़ हो, परन्तु उसकी दिशा तो राजमार्ग की तरफ ही होगी न ? उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान उपरान्त शुद्धोपयोगी चारित्रदशा – वह तो मोक्ष का सीधा राजमार्ग है, उससे तो उसी भव में ही केवलज्ञान और मोक्ष-पद प्राप्त हो सकता है; और ऐसी चारित्रदशा बिना जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वह अभी अपूर्ण मोक्षमार्ग होने से ऊबड़-खाबड़ कहा जाता है, वह कुछ ही भव में मोक्षमार्ग पूर्ण करके मोक्ष को साधेगा। पूर्ण मोक्षमार्ग अथवा अपूर्ण मोक्षमार्ग, परन्तु इन दोनों की दिशा तो स्वभाव तरफ की ही है; एक की भी दिशा राग की तरफ नही है। रागादिभाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत है अर्थात् बन्धमार्ग है, इन रागादि से मोक्षमार्ग नहीं सध सकता। मोक्षमार्ग के आश्रय से बन्धन नही और बन्धमार्ग के आश्रय से मोक्ष नहीं।

राग के समय उसका निषेध करनेवाला जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वही मोक्षमार्ग है। ऐसा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान उदित होने पर ही सच्चा मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। सम्यग्दृष्टि स्वानुभव के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधता है। शुभराग के प्रमाण में मोक्षमार्ग नहीं सधता – वह तो बन्धपद्धति है।

"तो क्या सम्यग्दृष्टि अध्यात्म के ही विचार में रहता होगा ? क्या बन्धपद्धति का विचार ही उसको नहीं आता होगा ?" ऐसा किसी को प्रश्न उत्पन्न हो तो अग्रिम प्रकरण में उसका समाधान करेंगे।

९

ज्ञाता का मिश्रव्यवहार

जब ज्ञाता कदाचित् बन्धपद्धति का विचार करता है, तब वह जानता है कि इस बन्धपद्धति से मेरा द्रव्य अनादिकाल से बन्धरूप चला आया है; अब इस पद्धति का मोह तोड़कर प्रवर्त्त। इस पद्धति का राग पूर्व की भाँति हे नर! तू किसलिए करता है? – इस भाँति क्षणमात्र भी बन्धपद्धति में वह मग्न नहीं होता। वह ज्ञाता अपना स्वरूप विचारता है, अनुभव करता है, ध्याता है, गाता है, श्रवण करता है; तथा नवधाभक्ति, तप, क्रिया आदि अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर करता है। यह ज्ञाता का आचार है, इसी का नाम मिश्रव्यवहार है।

देखो, यह साधकजोव का व्यवहार और उसकी विचारश्रेणी। इसको स्वभाव का कितना रग है। वार-वार उसका ही विचार, उसका ही मनन, उसके ही ध्यान-अनुभव का अभ्यास, उसका ही गुणगान, उसका ही श्रवण, सर्वप्रकार से उसकी ही भक्ति। वह जिस किसी क्रिया मे प्रवर्त्तता है, उसे उसमे सर्वत्र शुद्धस्वरूप की सन्मुखता ही मुख्य है। इसके विचार मे भी स्वरूप के विचार की मुख्यता है, इसलिए कहा कि ज्ञाता कदाचित् बन्धपद्धति का विचार करे – तव भी उस वन्धपद्धति मे वह मग्न नही होता, किन्तु उससे छूटने का ही विचार करता है। अज्ञानी तो सव-कुछ राग की सन्मुखता से करता है, शुद्धस्वरूप की सन्मुखता उसको है नहीं। वह कर्मवन्धन आदि का विचार करता है तो उसमे ही मग्न हो जाता है और अध्यात्म एक तरफ पड़ा रह जाता है। अरे भाई! ऐसी वन्धपद्धति मे तो

अनादि से तू वर्त्त ही रहा है, अब तो इसका मोह छोड़ ! अनादि से इस पद्धति में तेरा किंचित् भी हित हुआ नहीं, अतः इसका मोह तोड़कर अब तो अध्यात्मपद्धति प्रकट कर ! ज्ञानियो ने तो इसका मोह तोड़कर अध्यात्मपद्धति प्रकट की है, किन्तु अभी राग की कुछ परम्परा शेष है, उसको भी अध्यात्म की उग्रता से निरस्त करना चाहते हैं अर्थात् राग की पद्धति में वे एकक्षण भी मग्न नही होते। देखो, यह मोक्ष के साधक की दशा ! 'तू रूचतां जगतनी रुचि आलसे सौ' शुद्धात्मारूप समयसार की जहाँ रुचि हुई, वहाँ परभाव की रुचि रहती ही नहीं ! अरे, समस्त जगत की रुचि छूट जाती है। जिसको अंशमात्र भी राग की रुचि रहे, उसके परिणाम चैतन्य की ओर नहीं झुक सकते और मोक्षमार्ग नहीं सध सकता।

राग की रुचि छोड़कर धर्मी जीव चैतन्य के प्रेम में ऐसा मग्न है कि बार-बार उसका ही स्वरूप विचारता है, उपयोग को पुनः पुनः आत्मा की तरफ लगाता है, कभी-कभी निर्विकल्प अनुभव करता है, एकाग्रता से आत्मा का ध्यान करता है। **'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो'** – इसप्रकार सिद्ध जैसा निजस्वरूप का अनुभव करता है; इसकी बात सुनते ही उत्साहित हो जाता है, इसका गुणगान एवं महिमागान करते ही उल्लसित हो जाता है। अहा ! मेरी चैतन्यवस्तु अचिन्त्य महिमावन्त है, इसके समक्ष रागादि परभाव तो अवस्तु हैं – इस अवस्तु की रुचि कौन करे ? इसकी महिमा, इसका गुणगान कौन करे ? सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धस्वरूप की नवधाभक्ति करता है अथवा मुनिराज की नवधाभक्ति करे, उसमें भी शुद्धस्वरूप की सन्मुखता है। इस वचनिका के लेखक पण्डित श्री बनारसीदासजी ने समयसार नाटक के मोक्षद्वार मे ज्ञानी कैसी नवधाभक्ति करता है, इसका सुन्दर वर्णन किया है :–

श्रवण कीर्तन चिन्तवन सेवन वन्दन ध्यान।
लघुता समता एकता – नवधा भक्ति प्रवान ।।८।।

(१) **श्रवण :–** उपादेयरूप अपने शुद्धस्वरूप के गुणों का प्रेम-पूर्वक श्रवण करना, वह एक प्रकार की भक्ति है। जिसके प्रति जिसको भक्ति हो, उसको उसके गुणगान सुनते ही प्रमोद आता है; धर्मी जीव को निजस्वरूप का गुणगान सुनने पर प्रमोद आता है।

(२) **कीर्त्तन :–** चैतन्य के गुणो का–उसकी शक्तियों का व्याख्यान करना, महिमा करना ही उसकी भक्ति है।

(३) **चिन्तन :–** जिसके प्रति भक्ति हो, उसके गुणों का बार-बार विचार करता है, धर्मी जीव निजस्वरूप के गुणो का बार-बार चिन्तवन करता है। यह भी स्वरूप की भक्ति का एक प्रकार है।

(४) **सेवन :–** अन्दर मे निजगुणो का पुन पुन: अध्ययन-मनन करना।

(५) **वन्दन :–** महापुरुषो के चरणों में जैसे भक्ति से वन्दन करता है, वैसे ही चैतन्य स्वरूप मे परमभक्तिपूर्वक वन्दना, नमना, उसमे लीन होकर परिणमन करना; वह सम्यग्दृष्टि की आत्मभक्ति है।

(६) **ध्यान :–** जिसके प्रति परमभक्ति होती है, उसका बार-बार ध्यान हुआ करता है; उसके गुणो का विचार, उपकारों का विचार बार-बार आता है, उसीतरह धर्मी जीव अत्यन्त प्रीतिपूर्वक बार-बार निजस्वरूप के ध्यान में प्रवर्त्तता है। कोई कहे कि हमको निजस्वरूप के प्रति प्रीति और भक्ति तो बहुत है, परन्तु उसके विचार मे या ध्यान मे मन बिल्कुल नहीं लगता तो उसकी बात झूठी है। जिसकी वास्तविक प्रीति होगी, उसके विचार या चिन्तन मे मन न लगे–ऐसा नही हो सकता। अन्य विचारो मे तो तेरा मन लगता है और यहाँ स्वरूप के विचार मे तेरा मन लगता नही–इस बात से तेरे परिणामों का माप निकलता है कि स्वरूप के प्रेम की अपेक्षा अन्य पदार्थो के प्रति प्रेम तुझे विशेष है। जैसे घर मे किसी मनुष्य को खाने-पीने, बोलने-चालने मे मन न लगता हो तो लोग अनुमान

लगा लेते हैं कि इसका मन कहीं अन्यत्र लग गया है; उसीप्रकार चैतन्य में जिसका मन लग जाये, सच्चा प्रेम जग जाये, उसका मन जगत के सभी पदार्थों से उदास हो जाता है और बार-बार निजस्वरूप की तरफ ही उपयोग झुकता है। इसप्रकार स्वरूप के ध्यानरूप भक्ति सम्यग्दृष्टि के होती है तथा ऐसे स्वरूप को साधनेवाला जीव पञ्च-परमेष्ठी आदि के गुणों को भी भक्तिपूर्वक ध्याता है।

(७) लघुता :– पञ्च परमेष्ठी आदि महापुरुषों के समक्ष धर्मी जीव को अपनी अत्यन्त लघुता भासती है। अहा ! कहाँ इनकी महान दशा और कहाँ मेरी अल्पता ! अथवा सम्यग्दर्शनादि और अवधि-ज्ञानादि हुए, किन्तु चैतन्य के केवलज्ञानादि अपार गुणों के समक्ष तो अभी बहुत अल्पता है – इसतरह धर्मी को अपनी पर्याय में लघुता भासित होती है। पूर्णता का भान है, इसलिए अल्पता व लघुता भासती है; जिसको पूर्णता का भान नहीं है, उसको तो थोड़े में ही बहुत मालूम होने लगता है।

(८) समता :– समस्त जीवों को शुद्धभाव की अपेक्षा समान देखना, उसका नाम समता है; परिणाम को चैतन्य में एकाग्र करने पर समभाव प्रगट होता है। जिसप्रकार महापुरुषों के समीप में क्रोधादि विषमभाव नहीं होते, उसीप्रकार चैतन्य के साधक जीव को क्रोधादि उपशान्त होकर अपूर्व समता प्रकट होती है।

(९) एकता :– एकमात्र आत्मा को ही अपना मानना, शरीरादि को पर जानना, रागादि भावों को भी स्वरूप से भिन्न जानना और अन्तर्मुख होकर स्वरूप के साथ एकत्व करना – ऐसी एकता अभेद-भक्ति है, वही मुक्ति का करण है और वह सम्यग्दृष्टि को ही होती है।

वाह ! देखो यह सम्यग्दृष्टि की नवधाभक्ति ! वह शुद्ध आत्म-स्वरूप के श्रवण, कीर्तन, चिन्तवन, सेवन, वन्दन, ध्यान, लघुता, समता, एकता – ऐसी नवधाभक्ति से मोक्षमार्ग साधता है।

प्रश्न :– ज्ञानी नवधाभक्ति करता है यह तो ठीक, किन्तु वह तप भी करता है क्या ?

उत्तर :– हाँ, ज्ञानी तप भी करता है, किन्तु किस रीति से ? अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर वह तप वगैरह क्रियायें करता है – यह ज्ञानी का आचार है। ज्ञानी के ऐसे अन्तरग-आचार को अज्ञानी पहचानता नहीं है, वह तो मात्र शारीरिक क्रिया को ही देखता है। शुद्धस्वरूप की सन्मुखता से जितनी शुद्धपरिणति हुई, उतना ही तप है – ऐसा धर्मी जानता है। ऐसा तप अज्ञानी के होता नही, अतः वह उसे पहचानता भी नही। तप वगैरह का शुभराग बाह्यनिमित्त है तथा देह की क्रिया तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न वस्तु है – उसके बदले अज्ञानी तो इसको ही मूलवस्तु मान बैठा है और वास्तविक मूलवस्तु को भूल गया है। शुभराग और साथ मे भूमिका योग्य शुद्धपरिणति – यह ज्ञानी का आचार है और इसी का नाम मिश्रव्यवहार है। मिश्र का अर्थ है – किञ्चित् शुद्धता और किञ्चित् अशुद्धता। उसमे जो अशुद्ध अंश है, वह धर्मी को भी आस्रव-बन्ध का कारण है और जो शुद्ध अश है, वह सवर-निर्जरा का कारण है। इसप्रकार आस्रव-बन्ध और सवर-निर्जरा – यह चारो भाव धर्मी को एकसाथ वर्त्तते हैं। अज्ञानी के मिश्रभाव है नही, उसके तो अकेली अशुद्धता ही है तथा सर्वज्ञ के मिश्रभाव नही, अकेली शुद्धता ही है। मिश्रभाव साधक दशा मे ही होता है और उसमे शुद्धपरिणति के अनुसार वह मोक्षमार्ग को साधता है।

अहा ! धर्मात्मा की यह अध्यात्मकला····अलौकिक है भाई, अलौकिक··· यह कला ही सचमुच सीखने जैसी है और इसी का प्रचार-प्रसार करने जैसा है, क्योकि वास्तविक सुख इसी अध्यात्मकला से प्राप्त होता है। अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त अन्य लौकिक विद्याओ की कीमत धर्म मे किंचित् भी नही। 'सा विद्या या विमुक्तये' – आत्मा को मोक्ष का कारण न हो, ऐसी विद्या को विद्या कौन कहे ?

जिसने अध्यात्म विद्या जानी है, ऐसे ज्ञानी के मिश्रव्यवहार कहा है अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता – दोनों ही एकसाथ उसके होती हैं; परन्तु एक साथ होने पर भी शुद्धता और अशुद्धता एक दूसरे में मिल नही जाती। जो अशुद्धता है, वह कही शुद्धतारूप नही हो जाती और जो शुद्धता है, वह कही अशुद्धतारूप (रागादिरूप) नही हो जाती। एक साथ होने पर भी दोनों की भिन्न-भिन्न धारा है। इसप्रकार 'मिश्र' शब्द दोनों का भिन्नत्व सूचक है, एकत्व सूचक नही। उसमें से जो शुद्धता है, उसके द्वारा धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है और जो अशुद्धता है, उसको वह हेय समझता है।

विद्वद्वर्य पण्डित बनारसीदासजी कृत

उपादान-निमित्त दोहा

गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।
ज्यो नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन ॥१॥

हौ जाने था एक ही, उपादान को काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानी मांहि जहाज ॥२॥

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निहचै जहाँ, तहँ निमित्त व्यवहार ॥३॥

उपादान निजगुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझै कोय ॥४॥

उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्रसौं रथ चले, रवि को यहै स्वभाव ॥५॥

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह मे, तिरे सहज बिन पौन ॥६॥

उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेस।
वसे जु जैसे देश मे, करे सु तैसे भेस ॥७॥

१०

हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप ज्ञाता की चाल

हेय अर्थात् त्यागरूप तो अपने द्रव्य की अशुद्धता, ज्ञेय अर्थात् विचाररूप अन्य षट्द्रव्यों का स्वरूप, उपादेय अर्थात् आचरणरूप अपने द्रव्य की शुद्धता। उसका विवरण – गुणस्थान प्रमाण हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप शक्ति ज्ञाता की होती है। ज्यों-ज्यों ज्ञाता की हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप शक्ति वर्धमान हो, त्यों-त्यों गुणस्थान की बढ़वारी कही है।

गुणस्थान प्रमाण ज्ञान, गुणस्थान प्रमाण क्रिया। उसमें विशेष इतना कि एक गुणस्थानवर्त्ती अनेक जीव हों तो अनेकरूप ज्ञान कहा जाता है, अनेकरूप क्रिया कही जाती है। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रमाण से एकता नहीं मिलती। एक-एक जीवद्रव्य में अन्य-अन्यरूप औदयिकभाव होते हैं, उन औदयिक भावानुसार ज्ञान की अन्य-अन्यता जनना।

विशेष इतना कि किसी जाति का ज्ञान ऐसा नहीं होता कि परसत्तावलम्बनशीली होकर मोक्षमार्ग साक्षात् कहे। क्यों? अवस्था-प्रमाण परसत्तावलम्बक है। (परन्तु) परसत्तावलम्बी ज्ञान को परमार्थता नहीं कहता। जो ज्ञान स्वसत्तावलम्बनशीली होता है – उसी का नाम ज्ञान है।

देखो, यह धर्मी की विचारधारा ! धर्मात्मा परद्रव्य को तो अपने से भिन्न जानता ही है, वह तो भिन्न ही है। अर्थात् उसमें कुछ त्यागपना और ग्रहणपना तो आत्मा के है ही नहीं, वे समस्त परद्रव्य तो ज्ञेयरूप हैं।

अब, जो कुछ भी ग्रहण-त्यागरूप है, वह सब अपने में ही है। अपनी अवस्था में जो अशुद्धता है, वह हेय है; अशुभराग हो या शुभराग हो – वह अशुद्ध है, इसलिये हेय है; उसके किसी भी अंश को धर्मी जीव उपादेय नहीं मानता।

अपने द्रव्य की शुद्धता ही उपादेय है। शुद्धद्रव्य को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्रता करने पर पर्याय भी शुद्ध होती जाती है। पर्याय अपेक्षा से पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष उपादेय है, सम्यग्दर्शनादि शुद्ध पर्याय भी उपादेय है। शुद्धद्रव्य को श्रद्धा-ज्ञान में लेने पर ही शुद्ध-द्रव्य को उपादेय किया – ऐसा कहा जाता है। इसतरह अपने द्रव्य की शुद्धता ही उपादेय है; इसके अतिरिक्त समस्त परद्रव्य तो मात्र ज्ञेय है, हेय अथवा उपादेय नहीं।

प्रश्न :– परद्रव्य हेय-उपादेय नहीं तो क्या सिद्धभगवान आदि पञ्चपरमेष्ठी भी उपादेय नही ?

उत्तर :– भाई ! धैर्यपूर्वक यह बात समझने जैसी है। क्या सिद्धभगवान या पञ्चपरमेष्ठी में से उनका एक भी अंश तेरे में आता है ? जब उनका कोई भी अंश तेरे में नहीं आता, तो तू उनको उपादेय किसप्रकार करेगा ? हाँ, तुझे यदि पञ्चपरमेष्ठी पद वास्तव में प्रिय और उपादेय लगता है तो अपने द्रव्य की शुद्धता की ओर जा ! और उसमें से शुद्धपर्यायरूप परमेष्ठीपद प्रगट कर ! इसतरह तू स्वयं ही पञ्चपरमेष्ठी में मिल जा ! इसलिए कहा भी है कि – **'पञ्चपद व्यवहार से, निश्चय आतम माँहि'** अर्थात् आत्मसन्मुख होना ही पञ्च परमेष्ठी को उपादेय करने की रीति है।

सिद्ध वगैरह को यहाँ ज्ञेय कहा है, अतः उनका स्वरूप विचार कर। जो उनको वास्तव मे ज्ञेय बनावे तो उस ज्ञान मे अपना शुद्धात्मा उपादेय ही हो जावे – ऐसा नियम है। अपने शुद्धात्मा को जो ज्ञान उपादेय नही करता, वह ज्ञान सिद्ध वगैरह पञ्चपरमेष्ठी का सच्चा स्वरूप भी नही पहचान सकता अर्थात् उनको वास्तव मे ज्ञेय नही बना सकता, साथ ही परभावो को हेय भी नही बना सकता। इसप्रकार जहाँ शुद्धात्मा का उपादेयपना है, वहाँ ही सिद्ध वगैरह का ज्ञेयपना और परभावो का हेयपना है। हेय, ज्ञेय और उपादेय की ऐसी पद्धति धर्मात्मा के ही होती है, अज्ञानी के तो उसमे नियम से विपरीतता होती है।

शुद्धात्मा को उपादेय करके जैसे-जैसे स्वसन्मुखता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे परभाव छूटते जाते है और ज्ञानशक्ति बढती जाती है; तथा शुद्धता बढने पर गुणस्थान भी बढता है। ज्ञानी के जैसे-जैसे गुणस्थान बढता जाता है, वैसे-वैसे हेय-ज्ञेय-उपादेय शक्ति भी बढ़ती जाती है।

प्रश्न :– ज्ञानी के जैसे-जैसे गुणस्थान बढता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धता छूटती जाती है और शुद्धता बढती जाती है अर्थात् हेय और उपादेय शक्ति तो बढती जाती है, परन्तु गुणस्थानानुसार ज्ञान भी बढता है – यह किसप्रकार ? किसी को चतुर्थ गुणस्थान ही हो, तथापि अवधिज्ञान होता है; जबकि किसी को बारहवाँ गुणस्थान हो तो भी अवधिज्ञान न हो – ऐसी दशा में गुणस्थान बढने पर ज्ञान शक्ति भी बढती है – यह नियम तो नही रहा ?

उत्तर :– यहाँ स्वज्ञेय को जानने की प्रधानता है, क्योंकि यहाँ मोक्षमार्ग के साधने का प्रकरण है। मोक्षमार्ग कही अवधिज्ञान से नही सधता, वह तो सम्यक् मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वज्ञेय को पकडने से सधता है और स्वज्ञेय को पकड़ने की ऐसी ज्ञानशक्ति तो गुणस्थान

बढ़ने पर नियम से बढ़ती ही है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अवधिज्ञानी की अपेक्षा, अवधिज्ञानरहित बारहवें गुणस्थानवाले जीव के ज्ञान में स्वज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति विशेष बढ़ गई है। स्वज्ञेय की तरफ ढलनेवाला ज्ञान ही मोक्षमार्गरूप प्रयोजन को साधता है।

गुणस्थान प्रमाण ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है, परन्तु एक गुणस्थान में बहुत से जीव हों तो सबका ज्ञान एक-सा नही होता और उन सबकी क्रिया भी समान नही होती। एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीवों के ज्ञानादि में तारतम्यता होती है, किन्तु उनकी विरुद्ध जाति नहीं होती। चतुर्थ गुणस्थान में असंख्य जीव है, उनका उदयभाव भिन्न है, फिर भी सभी ज्ञानियों के ज्ञान की जाति तो एक ही है। सभी ज्ञानी जीवों का ज्ञान स्वाश्रय से ही मोक्षमार्ग जानता है; पराश्रय से मोक्षमार्ग माने – ऐसा किसी ज्ञानी का ज्ञान नही होता। एक गुणस्थान में सभी ज्ञानियों का औदयिक भाव तथा ज्ञान का क्षायोपशमिक भाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, तथापि उस उदय-भाव के आधार से ज्ञान नही है, ज्ञान तो स्वज्ञेयानुसार है। स्व-ज्ञेय का ज्ञान सभी ज्ञानियो को होने का नियम है, परन्तु अमुक उदयभाव होना चाहिये अथवा अमुक बाहर का जानपना होना चाहिए – ऐसा कोई नियम नही है; क्योंकि आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

इस सम्बन्ध में पं० राजमलजी पाण्डे ने 'समयसार कलश टीका' में (कलश १३ की टीका) में सरस बात की है। वे कहते है :–

"आत्मानुभव परद्रव्य की सहायता से रहित है, इसकारण अपने ही में अपने से आत्मा शुद्ध होता है·······जीववस्तु का जो प्रत्यक्षरूप से आस्वाद, उसको आत्मानुभव – ऐसा कहा जाय अथवा ज्ञानानुभव – ऐसा कहा जाय; दोनो में नामभेद है, वस्तुभेद नही है; अतः ऐसा जानना कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। इसप्रसग मे और भी

संशय होता है कि कोई जानेगा कि द्वादशागज्ञान कुछ अपूर्वलब्धि है। उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि द्वादशागज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है; इसलिये शुद्धानुभूति के होने पर शास्त्र पढने की कुछ अटक नही है।"

द्वादशाग भी ऐसा ही कहता है कि शुद्धात्मा मे प्रवेश करके जो शुद्धात्मानुभूति हुई, वही मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई, वहाँ फिर कोई नियम या टेक नही है कि इतने शास्त्र जानना ही चाहिए अथवा इतने शास्त्र जाने, तभी मोक्षमार्ग बने; विशेष शास्त्र ज्ञान हो या न हो, परन्तु जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई – वहाँ मोक्षमार्ग हो ही गया।

साधक के ज्ञान मे कुछ परावलम्बन भी है, परन्तु उससे उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान नही हो जाता; फिर भी ज्ञानी उस परावलम्बन को मोक्षमार्ग नही मानता; शुद्धात्मानुभूतिरूप ज्ञान ही मोक्षमार्ग का साधक है – ऐसा ज्ञानी मानता है। बारह अग मे भी शुद्धानुभूति ही करने का उपदेश है और उसी को जिनशासन कहा गया है। जिसने शुद्धात्मा की अनुभूति की, उसने बारह अग का सार प्राप्त कर लिया; पश्चात् अमुक शास्त्रो का पठन करना ही पड़े – ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है। बारह अग का ज्ञान हो तो हो, और न हो तो भी स्वसत्ता के अवलम्बनरूप स्वानुभूति से ज्ञाता मोक्षमार्ग को साधता है।

उदयभाव हो, परन्तु उसका अवलम्बन ज्ञानी को नही है। उदयभाव अवस्था के प्रमाण में है अवश्य; किन्तु उसके अवलम्बन से ज्ञान नही है, ज्ञान तो स्वानुभवप्रमाण है। परसत्तावलम्बनशील ज्ञान – वह परमार्थ नही, मोक्षमार्ग नही; स्वानुभूतिरूप स्वसत्तावलम्बनशील ज्ञान ही परमार्थ है और वही मोक्षमार्ग है।

अहो ! स्वानुभूति की ही महिमा है, यही सच्ची विद्या है; इसके अतिरिक्त बाहर की विद्या अथवा शास्त्रपठन की विद्या मोक्ष की साधक नहीं, स्वसन्मुख झुकनेवाली विद्या ही मोक्ष की साधक है। अरे! ज्ञानी का भी परावलम्बी ज्ञान मोक्ष का साधन नहीं तो अज्ञानी के परावलम्बी ज्ञान की क्या बात करें ? भाई ! पराश्रयभाव के पहाड़ भी मोक्षमार्ग का उद्भव करने में समर्थ नही और स्वावलम्बन की कणिका मे से ही मोक्षमार्ग का उदय होता है।

इसप्रकार ज्ञानी स्वसत्तावलम्बनशीली ज्ञान को ही मोक्षमार्ग समझता है, उदय से अथवा बाहर के जानपने के अवलम्बन से वह मोक्षमार्ग नहीं मानता। अरे, उदयभाव से या बाहर के जानपने के आधार से गुणस्थान का माप नही निकलता; किन्तु अन्दर की शुद्धता के आधार से या स्वसत्ता का अवलम्बन कैसा है – उसके आधार से गुणस्थान का माप निकलता है। चौथे गुणस्थान मे असख्यात जीव है; सामान्यपने तो सबको समान गुणस्थान है, दृष्टि भी सबकी समान है; किन्तु ज्ञान का क्षयोपशम सर्वप्रकार से समान नहीं होता। क्षयोपशमभाव तथा उदयभाव का ऐसा स्वभाव है कि उसमें भिन्न-भिन्न जीवों के बीच में तारतम्यता होती है। क्षायिकभाव में तारतम्यता नहीं होती, उसमें तो एक ही प्रकार होता है। लाखो केवली भगवान तेरहवे गुणस्थान में विराजते है; उन सभी का क्षायिकभाव समान है, किन्तु औदयिकभाव में भिन्नता है। चौथे गुणस्थान में स्थित असंख्यात जीवों मे से उदयभाव मे किसी के मनुष्यगति का उदय, किसी के नरकगति का उदय, किसी के हजार योजन की मोटी अवगाहना का उदय, किसी के एक हाथ जितनी छोटी अवगाहना, किसी के अल्पायु का उदय, किसी की असख्यात वर्षो की आयु, किसी के असाता और किसी के साता – इसप्रकार अनेक भाँति की विचित्रता होती है। इसीतरह ज्ञान मे भी क्षयोपशम की विचित्रता अनेक प्रकार की होती है। अभी साधक को ज्ञान

अवस्था मे बहुत कुछ परावलम्बन भी है, क्योकि जब तक इन्द्रियज्ञान है, तब तक परावलम्बन भी है; परन्तु उस परावलम्बन में ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानता। किसी भी ज्ञानी का ज्ञान ऐसा नही होगा कि पराश्रय से मोक्षमार्ग माने। पराश्रितभाव से मोक्षमार्ग माने तो वह ज्ञान 'ज्ञान' नही, 'अज्ञान' है। ज्ञानी के ज्ञान मे अमुक परावलम्बी-पना होने पर भी मिथ्यापना नही है, क्योकि परावलम्बीपने को वह उपादेयरूप अथवा मोक्षमार्ग मानता नही। मोक्षमार्ग तो स्वाश्रित ही है – इसप्रकार हेय-ज्ञेय-उपादेय का स्वरूप वह नि:शक जानता है।

उपादेयरूप अपनी शुद्धता, हेयरूप अपनी अशुद्धता और ज्ञेयरूप अन्य छह द्रव्य। यहाँ ज्ञेयरूप 'अन्य छह द्रव्य' कहे; उनमे स्वद्रव्य ज्ञेयरूप तो है, किन्तु उसको उपादेयरूप ग्रहण किया गया है; क्योकि शुद्धद्रव्य को जाने, तभी तो उपादेय करे न? इसप्रकार उपादेय कहने पर 'ज्ञेयपना' तो आ ही गया अर्थात् मात्र ज्ञेय मे उसकी बात नही की। हाँ, अन्य जीवादि छह द्रव्य तो मात्र ज्ञेयरूप ही है।

ज्ञेयरूप तो सभी तत्त्व है। उपादेयरूप शुद्धजीव तथा सवर-निर्जरा-मोक्ष है। हेयरूप पुण्य-पाप-आस्रव और बन्ध है।

अजीवतत्त्व हेय नही है, उपादेय नही है, मात्र ज्ञेय है; अर्थात् जड़कर्म भी वास्तव मे हेय-उपादेय नही, वह मात्र ज्ञेय है। तथापि उसके आश्रय से होनेवाले परभावो को छुड़ाने के लिए (और स्वद्रव्य का आश्रय कराने के लिए) उपचार से उस अजीव कर्म को 'हेय' भी कदाचित् कह दिया जाता है; वहाँ सचमुच तो परद्रव्य के आश्रय से होनेवाली अशुद्धता का ही हेयपना बताने का आशय है।

अज्ञानी स्वद्रव्य को भूलकर परद्रव्य का ग्रहण-त्याग करना चाहता है, वह विपरीत बुद्धि है; ज्ञानी को पर मे ग्रहण-त्याग की बुद्धि नही होती। मुझे छोड़ने योग्य यदि कुछ है तो मेरी अशुद्धता और ग्रहण करने योग्य कुछ है तो मेरी शुद्धता। अहा! ऐसी बुद्धि होने

पर किसी के ऊपर राग-द्वेष नही रहा, किंचित् भी पराश्रयबुद्धि नहीं रही, मात्र निज में ही देखना रह गया। भाई ! तू दूसरे अजीव को अथवा पर को छोड़ना चाहता है, सो प्रथम तो वे तुझसे छूटे ही हैं; तथा दूसरे यह कि आकाश में एकक्षेत्र में रहनेरूप उनका सयोग तो सिद्धों के भी है अर्थात् उनके भी नहीं छूटता। जगत में छहों द्रव्य सदाकाल एकक्षेत्रावगाहरूप रहनेवाले है, इसलिए पर को छोड़ने की तेरी बुद्धि मिथ्या है। इसीप्रकार पर का एक अंश भी कभी तेरे स्वरूप में आता नहीं, इसलिए पर को ग्रहण करने की बुद्धि भी मिथ्या है। ज्ञानी के पर के ग्रहण-त्याग की ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती, ज्ञानी की चाल (पद्धति) तो अनोखी है। उसकी परिणति अन्तर में ग्रहण-त्याग का जो कार्य क्षण-क्षण में कर रही है, वह वाहर से पहिचानने में नहीं आती; वह क्षण-क्षण में शुद्धस्वभाव को ग्रहण करता है और परभावों को छोड़ता है। स्वभाव का ग्रहण और परभाव का त्याग — ऐसे ग्रहण-त्याग की क्रिया से वह मोक्ष का साधन कर रहा है, इसीलिए उसे साधक कहा है।

परद्रव्य मुझे अशुद्धता कराते है — ऐसा जो मानते हैं, वे परद्रव्य को हेय मानकर द्वेष करते हैं, किन्तु अपनी अशुद्धता को छोड़ने का उपाय नहीं करते। पर के आश्रय से मुझे शुद्धता होती है — ऐसा जो मानते है, वे परद्रव्य को उपादेय मानकर उसके राग में रुक जाते है; किन्तु स्वद्रव्य का आश्रय करके शुद्धता को नही साधते।

इसप्रकार निमित्ताधीन दृष्टि में अटके हुए जीव, स्वभाव का ग्रहण तथा परभाव का त्याग नहीं कर सकते अर्थात् मोक्ष को नही साध सकते।

अहो ! एक बार यह समझ ले तो वीतरागता प्रकट हो जाय, परिणति स्वाश्रय की तरफ झुककर मोक्षोन्मुख चलने लगे — यह धर्मी की चाल है।

पण्डित बनारसीदासजी ने उपादान-निमित्त के दोहे भी रचे है। दोहे तो केवल सात ही है, किन्तु उसमें स्पष्टता विशेष है। उसमे वे कहते है कि :–

सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन ?

जहाँ समस्त वस्तुएँ असहायपने अन्य की सहायता बिना ही सधती हैं, वहाँ निमित्त उनमे क्या करेगा ? कुछ भी नही। निमित्त कुछ सहायता कर सकता है – ऐसा बनता ही नही। जैसे बाह्य निमित्त सहकारी नही, वैसे ही मोक्षमार्ग मे शुभरागरूप निमित्त भी सहकारी नही, वह भी मोक्षमार्ग मे बिलकुल अकिंचित्कर है – यह बात विशेषरूप से समझना आवश्यक है।

जीव की शुद्धता-अशुद्धता मे परद्रव्य निमित्त है कि नही ?

है।

क्या वह निमित्त हेय है ?

नही।

तो क्या निमित्त उपादेय है ?

नही; अरे ! निमित्त हेय भी नही, उपादेय भी नही; निमित्त तो ज्ञेय है।

परद्रव्यरूप जो निमित्त है, वह तो हेय-उपादेय नही। यहाँ तो रागादिरूप अशुद्धव्यवहार को भी निमित्त की श्रेणी मे रखा है, और शुद्धसद्भूतव्यवहार को ही धर्मी के व्यवहार मे परिगणित किया है। यहाँ शुभरागरूप जो निमित्त कहा, वह हेय है; क्योकि वह अपना अशुद्धभाव है, अत. हेय है – ऐसा अभिप्राय जानना। अशुद्धभाव से मोक्षमार्ग नही सधता; शुद्धता की वृद्धि अनुसार ही मोक्षमार्ग साधा जाता है।

अज्ञानी हेय-ज्ञेय-उपादेय को बराबर पहचानता नही, अर्थात् हेय-ज्ञेय-उपादेय की शक्ति उसमे नही है। धर्मी जीव हेयरूप परभावो को हेय जानता है, उपादेयरूप अपने शुद्ध द्रव्य-पर्यायो को उपादेय जानता है और ज्ञेयरूप समस्त पदार्थो को ज्ञेय जानता है; अर्थात् हेय-ज्ञेय-उपादेय की शक्ति उसके प्रगट हुई है। ज्ञाता की यह शक्ति गुणस्थानानुसार बढ़ती जाती है।

चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का त्याग है, सम्यक्त्व व स्वरूपाचरणरूप शुद्धि प्रकटी है तथा स्वज्ञेय को जाना है।

पाँचवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान – इन दोनों कषायों का त्याग हुआ है, तथा स्वरूपाचरणचारित्र के उपरान्त देशसयमचारित्र की शुद्धि प्रकटी है अर्थात् हेय-उपादेय शक्ति बढ़ी है और स्वज्ञेय को पकड़ने की शक्ति भी बढी है।

छठवें-सातवे गुणस्थान में तीन कषायों के त्याग जितनी शक्ति प्रगटी है और संयमदशा के योग्य शुद्धता बढी है। इसप्रकार वहाँ हेय-उपादेय शक्ति बढी है और स्वज्ञेय को पकडने की शक्ति विशेषतया वृद्धिगत हुई है।

इसतरह गुणस्थान अनुसार अशुद्धता हेय होती जाती है (छूटती जाती है); शुद्धता उपादेय होती जाती है; इसप्रकार हेय-उपादेय शक्ति बढ़ती जाती है और ज्ञान की शक्ति भी बढती जाती है, तथा उस-उस गुणस्थान के योग्य क्रिया (शुभराग एवं बाह्य क्रिया) होती है। यद्यपि एक गुणस्थान में भी भिन्न-भिन्न अनेक जीवों की अलग-अलग क्रिया होती है, तथापि वह क्रिया उस गुणस्थान के योग्य ही होती है – उससे विरुद्ध नहीं होती। जैसे – करोड़ों मुनि छठवे गुणस्थान मे हों, उनमें से कोई स्वाध्याय, कोई ध्यान, कोई आहार, कोई विहार, कोई आलोचना, कोई प्रायश्चित, कोई उपदेश, कोई तीर्थवन्दना, कोई जिनस्तवन, कोई दिव्यध्वनि-श्रवण – इत्यादि

भिन्न-भिन्न क्रियाओं में प्रवर्तते हों; किन्तु कोई वस्त्र पहनता हो, पात्र मे भोजन-करता हो, अथवा सदोष आहार लेता हो—ऐसी क्रियाये छट्ठे गुणस्थान मे सभव नही है।

इसीप्रकार चौथे गुणस्थान मे जिनप्रभु की पूजा, मुनिराजों आदि को आहारदान, स्वाध्याय, शास्त्रश्रवणादि शुभकार्य तथा व्यापार-आरम्भादि अशुभकार्य, यदा-कदा स्वरूप का ध्यान आदि क्रियाये होती है, किन्तु कुदेव-कुगुरु का सेवन, बुद्धिपूर्वक त्रसहिंसा अथवा मास-भक्षणादि क्रियाये संभव नही है। इसप्रकार राग और वाह्य क्रियाये यद्यपि निमित्त है, तथापि वे गुणस्थान के अनुसार होती है।

तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी प्रभु के योग का कम्पन, दिव्यध्वनि, गगन मे मगलविहार आदि क्रियाये होती हैं; किन्तु वहाँ रोग, आहार अथवा भूमिगमन जैसी क्रियाये नही होती। जिस भूमिका मे जैसी क्रिया और जैसा राग सभव न हो, वैसी क्रिया और वैसा राग वहाँ माने तो उसको उस भूमिका का भी सच्चा ज्ञान नही है; और उस भूमिका के योग्य होनेवाले निमित्तों की भी सच्ची पहचान नही है।

अब हेय के सम्वन्ध मे सुनिये :— जिस भूमिका मे जिसप्रकार की अशुद्धता शेष हो, उसे वहाँ हेयरूप जाने; परन्तु उस भूमिका में जिसप्रकार की अशुद्धता का अभाव ही हो, वहाँ हेय किसको करना? जैसे छठवे गुणस्थान मे मिथ्यात्व-अव्रतादि भाव छूट ही चुके हैं अर्थात् अब उनका छोड़ना क्या? इसलिये वहाँ हेयरूप मे उन अव्रतादि को नही लेना; अपितु उस भूमिका मे जो महाव्रतादि सम्वन्धी शुभराग विद्यमान है—वर्त्त रहा है, वह राग ही वहाँ हेयरूप है। कारण कि छोड़नेयोग्य तो निज मे होनेवाली—रहनेवाली अशुद्धता है, किन्तु अपने मे जो अशुद्धता है ही नही, उसको क्या छोड़ना? इसलिये

हेयपना भी गुणस्थान अनुसार जानना। केवली भगवन्त को अब कोई मिथ्यात्व अथवा रागादिक को हेय करना नहीं रहा, उनके तो वे भाव छूट ही चुके हैं; उनका छोड़ना क्या? इसतरह सर्व गुणस्थानों में जो अशुद्धता विद्यमान हो, उसका ही हेयपना समझना। जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हेयरूप भाव घटते जाते हैं और उपादेयरूप भाव बढ़ते जाते हैं। अन्त में हेयरूप समस्त भाव छूटकर, सर्वथा प्रकार से उपादेय–ऐसी सिद्धदशा प्रगट होती है। फिर वहाँ हेय-उपादेयपने की कोई प्रवृत्ति शेष नहीं रहती–वहाँ कृतकृत्यपना है।

देखो, जैसे-जैसे हेय-उपादेयशक्ति बढे, तदनुसार गुणस्थान भी बढ़ता है–ऐसा कहा। हेय-उपादेयरूप तो अपने अशुद्ध-शुद्धभाव ही कहे; किन्तु परद्रव्य के ग्रहण-त्यागानुसार गुणस्थान बढ़ता है–ऐसा नहीं कहा। वस्त्रादि त्यागे, इसलिए गुणस्थान बढ़ गया–ऐसा नियम नहीं है; अपितु मिथ्यात्वादि परभाव छोड़ने के प्रमाण में ही गुणस्थान बढता है। गुणस्थान बढ़ने पर उस-उस गुणस्थान अनुसार बाह्य त्याग (जैसे छठवें गुणस्थान में वस्त्रादि का त्याग) तो सहजरूप से स्वयं होता है; उस त्याग का कर्त्तृत्व आत्मा को नहीं है, आत्मा के तो उसका मात्र ज्ञातृत्व ही है। आत्मा को वह बाह्य-त्याग ज्ञेयपने है, उपादेयपने नहीं।

हेय-ज्ञेय-उपादेय सम्बन्धी ज्ञाता के विचार तो ऐसे ही होते हैं, इससे विरुद्ध विचार हों तो वे अज्ञानी के विचार हैं। मोक्षमार्ग कहीं दो प्रकार का नहीं है, मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है; स्वाश्रित-भावरूप एक ही प्रकार का मोक्षमार्ग है, पराश्रितभाव वह मोक्षमार्ग नहीं है। पराश्रितभाव को मोक्षमार्ग माननेवाले की चाल मोक्षमार्ग से विपरीत है। स्वाश्रित मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुये समयसार गाथा २७६-२७७ में कहा है कि—आचारांग का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा अथवा छह जीवनिकाय की दया का शुभपरिणामरूप

व्यवहारचारित्र—ऐसे जो पराश्रितभाव, उनके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग मानने मे दोष आता है; क्योकि ऐसे पराश्रित ज्ञानादिभाव अज्ञानी के भी होते हैं, किन्तु उसके मोक्षमार्ग नही होता। ज्ञानी के ऊपरी दशा मे ऐसे पराश्रितभाव नही होते तो भी मोक्षमार्ग होता है, अतः पराश्रितभावो में मोक्षमार्ग है नही। शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आश्रय है और वहाँ अवश्य मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मा का आश्रय नही है, वहाँ मोक्षमार्ग भी नही है। इसप्रकार मोक्षमार्ग स्वाश्रित ही है, पराश्रित नही; अतः पराश्रित ऐसा व्यवहार निषेध करने योग्य है, हेय है। स्वसत्ता के अवलम्बन से ही धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है, परावलम्बी ज्ञानादि को मोक्षमार्ग नही मानता।

अरे जीव ! तेरी ज्ञानधारा मे भी जितना परावलम्बन है, वह मोक्ष का कारण नही है तो फिर सर्वथा परावलम्बी राग मोक्ष का कारण होगा ही कैसे ? और फिर बाह्यनिमित्त तो कहाँ रह गये ? अरे, ऐसा दुर्लभ अवसर पाकर भी हे जीव ! यदि तूने अपने स्वज्ञेय को नही जाना और स्वाश्रय से मोक्षमार्ग नही साधा तो तेरा जीवन व्यर्थ है। यह अवसर बीत जाने पर तू पछतायेगा।

प्रश्न :– निमित्त और व्यवहार को आप महत्त्व नही देते और मात्र अध्यात्म को ही महत्त्व देते हो, किन्तु जगत मे अध्यात्म की बात को पूछता ही कौन है ? व्यवहार और निमित्त की बात को तो सभी जानते हैं। जैसे :–

निमित्त कहै मोकों सबै, जानत है जग लोय।
तेरो नाम न जान ही, उपादान को होय ?

(भैया भगवतीदास)

उत्तर :– भाई, जगत के अज्ञानी ऐसी अध्यात्म बात को भले न जाने, किन्तु जगत के सभी ज्ञानी और सर्वज्ञ तो यह बात बराबर जानते है। जैसे :–

उपादान कहे रे निमित्त ! तू कहा करे गुमान ।
मोकों जानें जीव वे, जो हैं सम्यक्वान ।।

(भैया भगवतीदास)

जो इस अध्यात्म का स्वरूप जानते हैं, वे ही मुक्ति को पाते हैं; अज्ञानी को तो निश्चय-व्यवहार की कुछ खबर ही नही है अर्थात् वह यह बात जानता नही है और मानता भी नही है। जो जीव यह बात जान लेते हैं, वे अज्ञानी रहते नहीं हैं। यह तो आत्महित की अपूर्व अलौकिक बात है। ऐसे स्वावलम्बी मोक्षमार्ग का स्वरूप जो समझ ले, उसको मोक्षमार्ग प्रगट हुए बिना नही रहे।

......जगवासी जिय सोइ

क्रिया एक करता जुगल, यौं न जिनागम माँहि ।
अथवा करनी और की, और करै यौ नाहि ।।२१।।

करै और फल भोगवै, और बने नहि एम ।
जो करता सो भोगता, यहै यथावत जेम ।।२२।।

भावकरम करतव्यता, स्वयसिद्ध नहि होइ ।
जो जग की करनी करै, जगवासी जिय सोइ ।।२३।।

जिय करता जिय भोगता, भावकरम जियचाल ।
पुद्गल करै न भोगवै, दुविधा मिथ्याजाल ।।२४।।

तातै भावित करम कौ, करै मिथ्याती जीव ।
सुख-दुख आपद-सपदा, भुञ्जै सहज सदीव ।।२५।।

—पण्डित बनारसीदासजी
नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार

(११)

अध्यात्मपद्धतिरूप स्वाश्रित मोक्षमार्ग

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि ज्ञानी को भी साधकदशा मे परावलम्बी अनेक औदयिकभाव तो होते है, ऐसी दशा मे वे मोक्षमार्ग क्यों नही ?

इसके समाधान मे पण्डित श्री बनारसीदासजी कहते है कि :-

उस ज्ञान को सहकारभूत – निमित्तभूत अनेक प्रकार के औदयिकभाव होते है। ज्ञानी उन औदयिकभावों का तमाशगीर है; किन्तु उनका कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नही है, अवलम्बी नही है। इसलिए कोई ऐसा कहे कि सर्वथा अमुक प्रकार का औदयिकभाव हो, तभी अमुक गुणस्थान कहे, तो यह झूठ है; उसने द्रव्य के स्वरूप को सर्वथा प्रकार से जाना नही। क्यों ? कारण कि अन्य गुणस्थानों की तो बात क्या कहें, केवलियो के भी औदयिक भाव का नानापना – अनेकपना जानना। केवलियों के भी औदयिकभाव एक-सा होता नही; किसी केवली के दण्ड-कपाटरूप (समुद्घातरूप) क्रिया का उदय होता है, किसी केवली के वह नहीं होता। इसप्रकार केवलियों मे भी उदय की अनेकरूपता है, तो अन्य गुणस्थानो की तो बात क्या कहें ? इसलिये औदयिकभावो के भरोसे ज्ञान नहीं है, ज्ञान स्वशक्तिप्रमाण है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति, ज्ञायक-प्रमाण ज्ञान, तथा यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरणचारित्र – यह ज्ञाता का सामर्थ्यपना है।

भूमिकानुसार पराश्रितभाव हों, वह अलग बात है तथा उस पराश्रितभाव को मोक्षमार्ग मान लेना, अलग बात है। पराश्रितभाव तो ज्ञानी को भी होता है, किन्तु वह उसको मोक्षमार्ग नहीं मान लेता। ज्ञानी तो शुद्धस्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग साधता जाता है और पराश्रितभावो को तोड़ता जाता है; कुछ शेष भी रह जाय तो उसका तमाशगीर रहता है। इक्कीस प्रकार के औदयिकभाव हैं, उनमें से मिथ्यात्वादिरूप औदयिकभाव तो ज्ञानी के होते ही नही और शेष जो औदयिकभाव वर्त्तते हैं; वे ज्ञान के ज्ञेयपने वर्त्तते है। ज्ञानी उनका कर्त्ता नही, उनका भोक्ता भी नही, और ज्ञान मे उनका अवलम्वन भी नही। अन्तर में स्वभाव का अवलम्बन ज्ञान ही मोक्षमार्ग है। बाह्य का जानपना हीन भी हो तो भी ज्ञानी को खेद नहीं और विशेष जानपना हो तो उसकी भी कुछ महत्ता नहीं, क्योंकि वाहर के ज्ञान से मोक्षमार्ग का माप है नही। यहाँ तक कि अवधि-मन·पर्ययज्ञान हो तो शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो, और न हो तो विलम्ब लगे – ऐसा भी कोई नियम नहीं है। मोक्ष का साधन तो स्वानुभूति की उग्रतानुसार ही है।

पुनश्च ज्ञान के साथ (एकपने नही, किन्तु सहकारीपने) जो जो औदयिकभाव वर्त्तते है, उनको ज्ञानी जानता है; किन्तु उसकेउनका आग्रह अथवा पकड नही है। ऐसा ही राग और ऐसी ही क्रिया हो तो ठीक – ऐसी परावलम्बन की वुद्धि उसके नहीं है। एक ही गुणस्थान मे भिन्न-भिन्न विकल्प और भिन्न-भिन्न क्रियाये होती है, एक जीव को भी एक ही प्रकार का विकल्प सदा रहता नहीं, अनेक प्रकार के विकल्प होते है। कुन्दकुन्द स्वामी, वीरसेन स्वामी, जिनसेन स्वामी अथवा समन्तभद्र स्वामी – ये सभी मुनिवर छठवे-सातवे गुणस्थान की भूमिका में – मोक्षमार्ग मे वर्त्तते थे। फिर भी उनमे से एक को समयसार जैसा अध्यात्म शास्त्र रचने का विकल्प आया, दूसरे को षट्खण्डागम की धवला टीका जैसे करणानुयोग के शास्त्र

निर्माण का विकल्प हुआ, तीसरे को तीर्थकरो के पुराण की रचना रूप कथानुयोग – प्रथमानुयोग का भाव आया और चौथे को रत्नकरण्ड श्रावकाचार जैसे चरणानुयोग के उपदेश की वृत्ति उठी; इसप्रकार भिन्न-भिन्न विकल्प होने पर भी भूमिका सबकी एक-सी थी। अमुक विकल्प हो तो ही अमुक गुणस्थान हो – ऐसा विकल्प का प्रतिबन्ध नही है। फिर भी जो विकल्प होगा, वह भूमिका का उल्लघन करे – ऐसा विकल्प (जैसे छठवे गुणस्थान मे वस्त्र पहननेआदि का) नही होगा। इस सबध मे विस्तृत विवेचन पहले हो चुका है।

साधकभाव की एक ही धारा है कि 'अन्तर मे चैतन्य की स्वसत्ता का जितना अवलम्बन है, उतना ही साधकभाव है' ऐसे स्वाश्रयभाव की एक कणिका भी जिसके जागृत नहीं हुई, वह पराश्रय भाव के चाहे जितने पहाड़ खोद डाले तो भी 'खोदा पहाड़ निकली चूहिया' वाली कहावत के अनुसार वह हाथ में कुछ भी प्राप्त नही कर सकेगा; उसके तो 'खोदा पराश्रयभाव का पहाड और निकली ससाररूपी चूहिया' – यही सिद्ध हो सकेगा।

कोई स्वच्छन्दी प्रश्न करे कि हमे तो ससारसबधी खाने-पीने आदि क अशुभविकल्प ही आते है, किन्तु धर्मसम्बन्धी भक्ति-पूजन-स्वाध्याय आदि के शुभविकल्प नही आते। विकल्प तो भूमिकानुसार आते है – ऐसा आपने ही तो ऊपर कहा है।

उत्तर :– हाँ, भाई ! तेरी भूमिका के लिए वह विकल्प योग्य है, क्योकि स्वच्छन्दता की भूमिका मे तो ऐसा विपरीत ही विकल्प होता है न ! धर्म की रुचिवाले जीव की भूमिका मे धर्मसम्बन्धी विचार आते है और ससार की रुचिवाले जीव की भूमिका मे ससार की ओर के पापविचार आते है। जिसको ससार के पापभाव का तीव्ररस होगा, उसको धर्म के विचार आवेगे ही कहाँ से ? ऐसे जीव की तो यहाँ बात ही कहाँ है ? यहाँ तो साधकजीव किस भाँति

मोक्षमार्ग साधता है और उस मोक्षमार्ग के साधनकाल में कैसे-कैसे भाव बीच में आते है – उनकी बात है। उसे मोक्षमार्ग के साधक शुभभाव भी ऊँची श्रेणी के ही होते है, तीव्रपाप के भाव तो उसके कभी होते ही नहीं। भूमिका से अविरुद्ध जो शुभ या अशुभभाव होते हैं, उनका भी धर्मीजीव ज्ञाता रहता है, साक्षी रहता है, तटस्थ रहता है; औदयिकभाव के प्रवाह में वह स्वयं प्रवाहित नही हो जाता। दो क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव हों – उनमें से एक ध्यान में बैठा हो और एक युद्ध में खड़ा हो; वहाँ युद्ध में खडे होनेवाले के ऐसी शंका नहीं होती कि अरे, यह ध्यान में और मै युद्ध में; अतः मेरा सम्यग्दर्शन कुछ शिथिल हो गया होगा ? अथवा मेरे ज्ञान मे कुछ दोष होगा ? – ऐसी शंका सम्यक्त्वी को कदापि होती नही। वह निःशंक है कि मेरा सम्यग्दर्शन मेरे स्वभाव के अवलम्बन से है, वह इस औदयिकभाव मे मलिन अथवा अभावरूप नहीं हो जायेगा। राग के समय राग से भिन्न एक चैतन्यधारा ज्ञानी के वर्त्त रही है – इस धारा का नाम अध्यात्मपद्धति है और वह सीधी केवलज्ञान में जाकर मिल जाती है।

वाह ! 'मोक्षमार्ग स्वाश्रित है, पराश्रित नही' – यह सिद्धान्त पण्डितजी ने कितना स्पष्ट कर दिया है। जीव का पराश्रित क्षयोपशम भाव भी मोक्ष का कारण नही, तो फिर पराश्रित औदयिकभाव मोक्ष का कारण कैसे होगा ? बाहर की बात तो निकाल ही डाली, राग भी निकाल दिया और अन्दर का क्षयोपशमभाव भी जो पराश्रित है, उसको भी मोक्षमार्ग मे से निकाल दिया; मात्र स्वाश्रितभाव ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग के साथ मे उदयभाव हो अथवा रागादिरूप अशुद्धव्यवहार हो, किन्तु क्या उनके अवलम्बन से मोक्षमार्ग है ? नहीं, सम्यग्दृष्टि को तो उस व्यवहार से मुक्त कहा है; क्योंकि उसको उसका अवलम्बन नही है। जिसप्रकार केवलीप्रभु उदय के ज्ञाता है; उसीप्रकार छद्मस्थज्ञानी भी उदय का ज्ञाता है, उसकी

परिणति उदयभाव को तोडती हुई अध्यात्मधारा के बल से आगे बढ़ती जाती है।

देखो तो सही, गृहस्थ श्रावकों को भी अध्यात्म का कैसा प्रेम है और कैसी सरस चर्चा की है। इन पण्डित बनारसीदासजी ने उपादान-निमित्त के सात दोहों की भी रचना करके उपादान की एकदम स्वतन्त्रता प्रमाणित की है। कोई कहे कि यह तो उन्होंने उपादान-की भावुकतावश लिख दिया है, किन्तु भाई ! तू भी तो निमित्त की भावुकतावश उसका नकार कर रहा है। उपादान की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त तुझे नही जमता, नही जँचता; इसलिये ही 'भावुकता' कहकर उसको उड़ा रहा है। पण्डितजी ने तो वस्तुस्वरूप का सत्य सिद्धान्त प्रसिद्ध किया है और सत्य सिद्धान्त के पक्ष मे भावुकता भी हो तो इसमे क्या दोष है ? तुझे तो अभी बाहर की क्रिया (जड़ की क्रिया) का अकर्त्तापना भी नही बैठता तो फिर 'सम्यक्त्वी उदयभाव का भी अकर्त्ता है' – यह बात जमेगी ही कैसे ? और 'बहिर्लक्षी ज्ञान भी मोक्ष का साधक नही है', यह बात तुझे कौन समझायेगा ?

धर्मीजीव ज्ञान की स्वसंवेदनधारा से मोक्ष लेगा। जब बाहर की धारा ही मोक्ष नही देगी तो फिर राग या जड़ की क्रिया तो मोक्ष कहाँ से देगी ?

इतना जान लेने पर बाहर के ज्ञान का विशेष क्षयोपशम हो अथवा पुण्योदय प्रबल हो, तो भी उसका गर्व ज्ञानी को नही होता। अरे ! जो मेरे मोक्ष का कारण नही, उसका गर्व कैसा ? स्वानुभव मे जो मेरे काम न आवे, उसकी महिमा क्या ? द्वादशाग जानता न हो, तथापि ज्ञानी को कदाचित् ऐसी लब्धि उघड जाय कि श्रुतकेवली जैसा ही निःशक उत्तर सूक्ष्मतत्त्वों के सम्बन्ध मे भी दे दे, तो भी इस उघाड़ का गर्व या महत्ता ज्ञानी के नही है। ज्ञानी की वास्तविक शक्ति स्वसवेदन मे है। स्वसवेदन को पहचाने, तभी ज्ञानी की सच्ची

महिमा का बोध हो सके। किसी ज्ञाता को बारह अंग का ज्ञान न हो तो भी स्वानुभव के बल से केवलज्ञान की उपलब्धि करेगा।

पराश्रित राग या पराश्रित ज्ञान, वह मोक्षमार्ग नहीं है; स्वानुभूति का सामर्थ्य ही मोक्षमार्ग है। पराश्रयभावशून्य मोक्षमार्ग ज्ञाता ही साध सकता है, अज्ञानी तो उसे जान भी नही सकता। अहो! यह तो अर्हन्तों का—शूरवीरों का मार्ग है, यह कायरों का मार्ग नहीं है। समस्त परभावों को हेय करके और शुद्धता को उपादेय करके मोक्षमार्ग में स्थिति प्राप्त करना—स्वाश्रय करनेवाले शूरो का ही कार्य है, पराश्रय करनेवाले कायरो का नही। वीतरागी मोक्षमार्ग का डंका पीटते हुए सन्त कहते हैं कि अरे, राग को धर्म माननेवाले कायरों! तुम्हें चैतन्य का वीतरागमार्ग नहीं मिल सकता, चैतन्य को साधने का स्वाधीन पुरुषार्थ तुम प्रगट नही कर सकते। स्वाधीन चैतन्य का तुम्हारा पुरुषार्थ कहाँ गया? तुम धर्म करने निकले हो तो चैतन्यशक्ति का शौर्य अपने में प्रगट करो; इस वीतरागी वीरता से ही मोक्षमार्ग सधेगा। व्यवहार की रुचि की उपस्थिति में जीव को अन्तरस्वभाव में जाने की उमंग नहीं आती। अतः राग का रस छोडकर चैतन्यस्वभाव का उत्साह करो, जिससे स्वसत्ता के अवलम्बन की तरफ ज्ञान झुके और मोक्षमार्ग सधे। अहो! ऐसे स्वानुभवज्ञान से मोक्षमार्ग को साधनेवाले ज्ञानी की महिमा की क्या बात? इनकी दशा को पहिचानने वाला जीव निहाल हो गया है।

देखो, इन पण्डित बनारसीदासजी ने इस वचनिका मे ज्ञानी की चाल अर्थात् ज्ञानी की दशा कैसी होती है, वह किसप्रकार मोक्षमार्ग साधता है—इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने इसमें ज्ञानी की अध्यात्मपद्धति की महिमा अनेक प्रकार से समझाकर मोक्षमार्ग का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट किया है।

(१२)

उपसंहार

अब अन्त में उपसंहार करते हुए कहते है कि :-

इन बातों का विवरण कहाँ तक लिखें, कहाँ तक कहें ? वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत है, इसलिये यह विचार बहुत क्या लिखें ? जो ज्ञाता होगा, वह थोड़ा ही लिखा बहुत करके समझेगा। जो अज्ञानी होगा, वह यह चिट्ठी सुनेगा सही; परन्तु समझेगा नहीं। यह वचनिका ज्यों की त्यों सुमतिप्रमाण केवलीवचनानुसारी है। जो इसे सुनेगा, समझेगा, श्रद्धान करेगा – उसे कल्याणकारी है; (यथायोग्य) भाग्यप्रमाण।

अहो, ज्ञाता के सामर्थ्य की महिमा कोई अचिन्त्य है। अध्यात्म-पद्धतिरूप मोक्षमार्ग अर्थात् अन्तर की शुद्धपरिणति, वह वचन अथवा विकल्प से पकड़ी जा सके – ऐसी नहीं है। **'स्वभावोऽतर्क-गोचरः'** – तर्क से स्वभाव का पार नही पाया जा सकता, यह तो स्वानुभवगम्य है। अतः कहते हैं कि चाहे जितना विस्तार से लिखें, फिर भी अन्तर में जो महिमा प्रतिभासित हुई है, वह शब्दों से व्यक्त नही की जा सकती। जो जीव ज्ञाता होगे, पात्र होंगे; वे तो थोड़े मे भी अन्तरंग का रहस्य पकड लेगे; किन्तु जो अज्ञानी हैं, विपरीत रुचिवाले है; वे तो चाहे जितना स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किए जाने पर भी समझेंगे नहीं, अन्तर्दृष्टि की यह बात उन्हे हृदयस्थ होगी नही। इस चिट्ठी में परमार्थ का रहस्य भरा है, अतः इसे 'परमार्थवचनिका' कहा है। यह परमार्थवचनिका केवली के वचन-

अनुसार है और यथायोग्य मेरी सुमति से लिखी गई है। इस चिट्ठी में लिखित अध्यात्मभावों को जो समझेंगे, उनका अवश्य कल्याण होगा। 'मोक्षमार्ग क्या और बन्धमार्ग क्या ?' – ये दोनों ही इसमें स्पष्ट भिन्न बताये गए हैं, तदनुसार ही समझ लेने से सम्यग्दर्शन होकर स्वाश्रित अध्यात्मपद्धति प्रगट होगी अर्थात् मोक्षमार्ग प्रारम्भ होगा – यही अपूर्व कल्याण है।

इस वचनिका के परमार्थ भावों को समझकर सभी जीव अपूर्व कल्याण प्राप्त करें – ऐसी भावना है।

इसप्रकार पण्डित श्री बनारसीदासजी द्वारा लिखित अध्यात्म-रसभरपूर **'परमार्थवचनिका'** समाप्त हुई।

सम्यग्दृष्टि कैसा है, वह क्यों नहीं डरता ?

उसके (सम्यग्दृष्टि के) हृदय मे आत्मा का स्वरूप दैदीप्यमान प्रगटरूप से प्रतिभासता है। वह ज्ञानज्योति को लिए आनन्दरस से परिपूर्ण है। वह अपने को साक्षात् पुरुषाकार, अमूर्त्तिक, चैतन्यधातु का पिण्ड, अनन्त अक्षय गुणो से युक्त, चैतन्यदेव ही जानता है। उसके अतिशय से ही वह परद्रव्य के प्रति रञ्चमात्र भी रागी नही होता। वह अपने निजस्वरूप को ज्ञाता-दृष्टा, परद्रव्यो से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है और परद्रव्य को तथा रागादिक को क्षणभगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भलीभाँति भिन्न जानता है – इसलिए **सम्यग्ज्ञानी कैसे डरे ?**

– पण्डित गुमानीरामजी : समाधि-मरणस्वरूप
(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४०)

आध्यात्मिक कविवर पण्डित श्री बनारसीदासजी द्वारा रचित

उपादान-निमित्त की चिट्ठी का एक अंश

जहाँ मोक्षमार्ग साधा, वहाँ कहा कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' और ऐसा भी कहा कि 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'। उसका विचार – चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थानपर्यंत मोक्षमार्ग कहा; उसका विवरण – सम्यक्रूप ज्ञानधारा, विशुद्धरूप चारित्रधारा। दोनों धारायें मोक्षमार्ग को चलीं; वहाँ ज्ञान से ज्ञान की शुद्धता, क्रिया से क्रिया की शुद्धता है। विशुद्धता में शुद्धता तो यथाख्यातरूप होती है। यदि विशुद्धता में वह नहीं होती तो केवली में ज्ञानगुण शुद्ध होता, क्रिया अशुद्ध रहती; परन्तु ऐसा तो नहीं है। उसमें शुद्धता थी, उससे विशुद्धता हुई है।

यहाँ कोई कहे कि ज्ञान की शुद्धता से क्रिया शुद्ध हुई – सो ऐसा नहीं है। कोई गुण किसी गुण के सहारे नहीं है, सब असहायरूप हैं।

और भी सुन। यदि क्रियापद्धति सर्वथा अशुद्ध होती तो अशुद्धता की इतनी शक्ति नहीं है कि मोक्षमार्ग को चले; इसलिए विशुद्धता में यथाख्यात का अंश है, इसीलिए वह अंश क्रम-क्रम से पूर्ण हुआ।

हे भाई प्रश्नवाले! तूने विशुद्धता में शुद्धता मानी या नहीं? यदि तूने वह मानी तो कुछ और कहने का काम नहीं है; यदि तूने नहीं मानी तो तेरा द्रव्य इसीप्रकार परिणत हुआ है, हम क्या करें? यदि मानी तो शाबाश!

– पण्डित बनारसीदासजी : उपादान-निमित्त की चिट्ठी

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५६)